Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वर्ष 13, अंक 2 जुलाई, 1999

उन्मीलन

हिन्दस्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

सहयोगी

गोविन्दचन्द्र पाण्डे, दयाकृष्ण, रा. प्र. पांडेय,
रमेशचन्द्र शाह, अशोक वाजपेयी

दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अंक 2 जुलाई, 1999

उन्मीलन

नसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

सहयोगी

गोविन्दचन्द्र पाण्डे, दयाकृष्ण
रमेशचन्द्र शाह, अशोक वाजपेयी

दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

संपादन-सहयोगी

1. गोविन्दचन्द्र पांडे, 11, बलरामपुर हाऊस, इलाहाबाद - 211002
2. दयाकृष्ण, बी-189/ए, विश्वविद्यालय मार्ग, बापूनगर, जयपुर - 302015
3. रमेशचन्द्र शाह, निदेशक-निराला सृजन-पीठ, सी-165/1, प्रोफेसरकालोनी, भोपाल- 462002
4. अशोक वाजपेयी, सी 2/43, शाहजहां रोड, नई दिल्ली - 110011

संपादक

1. यशदेव शल्य, पी-51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर - 302015
दूरभाष 515693
2. मुकुन्द लाठ, ए37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर 302006
दूरभाष 213737 / 211725

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत — रु. 30/-
संस्थाएं — रु. 50/-

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत — रु. 300/-
संस्थाएं — रु. 3000/-

यशदेव शल्य एवं मुकुंद लाठ द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी-51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर-302015 के लिए विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर से लेज़र कंपोजिंग तथा रूपा प्रिन्टर्स, जयपुर में मुद्रित।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

विषय-सूची

1. काव्य-तत्त्व	यशदेव शल्य	85
2. धर्म और नीति : मानव-कर्म के सन्दर्भ में	मुकुन्द लाठ	95
3. भारतीय दार्शनिक चिन्तन का स्वरूप और उसकी परम्पराओं के मूल स्वर	दयाकृष्ण	107
4. अनेकान्त का अर्थ	आचार्य महाप्रज्ञ	117
5. शास्त्रमूर्त्ति धर्मदत्त (बच्चा) झा : वैदुष्य एवं व्यक्तित्व	किशोरनाथ झा	129
6. काव्यस्वरूपपरामर्शः	राधावल्लभः	145
7. अथतोऽध्यास जिज्ञासा	धर्मानन्दः	151
9. उन्मीलन गोष्ठी	सरला कल्ला	154

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

काव्य-तत्त्व

यशदेव शल्य

इस लेख का आरंभ हम कवि विषयक दो उक्तियों से करना चाहेंगे जो काव्य के एक ऐसे पक्ष के सम्बन्ध में कुछ कहती हैं जो ज्ञान और वस्तुविषयक एक गहरी समस्या से सम्बन्धित है और साथ ही जो काव्य के सम्बन्ध में प्रचलित धारणा के विपरीत दिशा की ओर संकेत करती हैं। ये उक्तियाँ हैं—"कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः"(ईशोपनिषद्) और "जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि।" यों प्रकटतः ये उक्तियाँ भी एकार्थक नहीं हैं, ये विपरीतार्थक भी कही जा सकती हैं, किन्तु वास्तव में ये एकार्थक ही हैं और इस प्रकट भिन्नार्थकता और वास्तव एकार्थकता के द्वारा ये काव्यविषयक और ज्ञानविषयक गहरे सत्य की ओर संकेत करती हैं। पहली, वैदिक उक्ति में, ईश्वर को कवि कहा गया है, जो स्वयंभू है और जो वस्तुओं को उनका याथार्थ्य देता है। यह 'वस्तुओं को उनका याथार्थ्य देना' अपने आप में एक समस्यात्मक बात है, क्योंकि एक अर्थ में वस्तु और उसका याथार्थ्य दो अलग बातें नहीं हैं—पत्थर एक वस्तु है और उसका होना ही उसका यथार्थ होना है। 'अवस्तु' शब्द से यह और स्पष्ट हो जाता है। 'आकाश-कुसुम' अवस्तु है, ऐसा कुछ जो कुछ हो ही नहीं सकता : अलीक, वदतोव्याघात, इसी से वह अयथार्थ भी है। इसलिए 'वस्तुओं को उनका याथार्थ्य देने' का अर्थ हो सकता है 'वस्तुओं को अस्तित्व में लाना', 'वस्तुओं को उत्पन्न करना।' किन्तु उतना मात्र इसका अर्थ नहीं है। उसके लिए तो ईश्वर को उनका जनक, उनका स्रष्टा ही कहना चाहिए था, कवि नहीं। उसका कवि होना वस्तुओं को उनके धर्म में, उनके अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित करने के लिए आवश्यक है, और कवि होने के लिए स्वयंभू होना, अपने स्वरूप और धर्म का मूल स्वयं होना आवश्यक है। 'जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि' इस उक्ति में कवि को ज्ञाता के रूप में देखा गया है। रवि ज्ञान का प्रतीक है। यों ज्ञान केवल बाह्य चक्षु से ही नहीं होता, अन्तश्चक्षु से भी होता है। एक अर्थ में तो कहा जा सकता है कि वह अन्तश्चक्षु से ही होता है, बाह्य चक्षु से वस्तु की केवल प्रतीति ही होती है जिससे ज्ञेय का केवल संकेत मिलता है। ज्ञेय के अन्तस्तल में प्रवेश, उसकी अन्तर्गुहा में पैठ तो केवल अन्तश्चक्षु से ही मिलती है। इस तरह रवि को वस्तु की प्रतीति और याथार्थ्य दोनों के ज्ञान का स्रोत कहना चाहिए। किन्तु यहाँ उल्लेखनीय है कि प्लेटो ने रवि को ज्ञान और शिवत्व दोनों का स्रोत कहा है। अन्तश्चक्षु से गम्य याथार्थ्य मात्र प्रतीति से या बाह्य चक्षुगम्य रूप मात्र से इसी बात में भिन्न होता है कि वह ज्ञान-स्वरूप और शिव-स्वरूप दोनों होता है। हमारे यहाँ भी तत्त्व को सत्य, शिव और सुन्दर की, सत्,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

चित्, आनन्द की अखंडता और अभिन्नता में ही देखा गया है। जो शिव और सुन्दर है सत्य भी वही हो सकता है, अथवा जो सत्य है शिव और सुन्दर भी वही है। शिवत्व और सौन्दर्य से रहित सत्य अयथार्थ होता है। सो, रवि सत्य, शिव और सुन्दर की अद्वयता का ही वाचक है। किन्तु उपर्युद्धृत उक्ति में 'रवि' का यह अर्थ अभिप्रेत नहीं है, इसमें इसके वस्तुओं के प्रातीतिक पक्ष का ज्ञापकत्व ही अभिप्रेत है। किन्तु यदि इन्द्रियगम्य पक्ष से आगे विचारगम्य पक्ष को भी इसमें सम्मिलित कर लिया जाय तो भी रवि की पहुँच वस्तुओं के विषयता-पक्ष तक ही सीमित रहती है, उनकी विषयिता का पक्ष, उनका आन्तर मन उसकी पहुँच के बाहर ही रहता है जो चक्षु और विचार के विपरीत भावनामूलक कल्पना के लिए ही गम्य होता है। कवि इसी को देखता है।[1] फूल और ओस की बूँद, विरहिणी के हृदय को आलोड़ित करता अवसाद, नीरव निशीथ में राका बिखेरता चाँद, कौरव-सभा में तेजस्विनी द्रौपदी का असाह्याय्य रवि की, या चक्षु की, या विचार की भी पहुँच इनकी ऊपरी सतह तक ही हो पाती है, इनका अन्तस्तल इनके लिए ओझल ही रहता है। इनके लिए यह लोक ही दूसरा है। इसे चाहें तो आप वस्तुओं की अन्तरात्मा का लोक कह सकते हैं, अथवा वह लोक जिसमें वस्तुएँ 'अपने से होकर' ही अपने को पाती हैं और 'स्वयं से स्वयं होकर देखने वाले' को ही अपने को दिखाती हैं। अब, इस लोक में वस्तुएँ कभी शुद्ध तद्रूप से, अपनी तटस्थ तथता में, नहीं होतीं, जिस तथता को 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' की त्रयी में 'सत्यं' से अभिहित किया जाता है। इस लोक में ये पहले सुन्दर या शिव रूप से, बल्कि कहें 'शिव-सुन्दर-सुन्दर-शिव' रूप से होती हैं और ऐसा होने पर ही ये सत्य हो पाती हैं, अथवा कहें इनके सत्य होने के लिए सुन्दर या शिव या सुन्दर-शिव-शिव-सुन्दर होना ही प्रमाण होता है। आप कहेंगे, पहले 'हुए' बिना कोई या कुछ सुन्दर या शिव कैसे हो सकता है? 'सुन्दर' और 'शिव' तो सद्वस्तु के विशेषण ही हो सकते हैं। जो है ही नहीं : आकाश- कुसुम : वह सुन्दर या कुरूप तथा शिव या अशिव कैसे होगा?

यह सही है, किन्तु 'आकाश-कुसुम' 'तो नहीं है' या 'नहीं हो पाया' भी नहीं होता, ऐसा तो वही होता है जो 'नहीं हो पाने', 'असत् होने' की पीड़ा को जानता है, जो जानता है कि 'झूठा पड़ना' या 'झूठ होना', या 'अपने योग्य नहीं हो पाना' या 'अपने अयोग्य हो जाना' इन स्थितियों का कष्ट क्या होता है![2] और यह 'होना' या 'नहीं होना' 'शिव-सुन्दर का होना य नहीं होना' ही होता है। यह कहा जा सकता है कि पत्थर शुद्ध रूप से 'होता मात्र' है और उसकी अनुपस्थिति उसका नहीं होना है। 'भूतले घटः' और 'भूतले घटाभावः' नैयायिकों के ये पुराने उदाहरण हैं। और यह उल्लेखनीय है कि नैयायिकों के लिए अभाव उतना ही पदार्थ है जितना भाव। किन्तु किसी का 'शुद्ध रूप से होना मात्र' उतनी सरल सहज बात नहीं है जितना सरल यह प्रतीत होता है। बुद्ध ने इसके क्षणिक होने से और मैत्रेयी ने 'किसी काम का नहीं होने से' इसे असत् या सदाभास कहा है, प्लेटो ने इसे छाया मात्र और अन्य अनेक ने मिथ्या : सदसद् का मिथुन : पाया है। इन सब में सत्

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

शिव से अभिन्न रूप में देखा गया है और असत् अशिव से। यहाँ हम इस प्रश्न के विस्तार में नहीं जा सकते।[3] यहाँ हम इतना ही कहना चाहेंगे कि शुद्ध रूप से होना मात्र सत् का उसके बाहर रह कर देखा गया रूप है, उसके भीतर पैठकर देखा गया रूप नहीं। कवि इसी सत् को जानता है, तभी वह मनीषी होता है और तभी वह अर्थों के, वस्तुओं के याथातथ्य को जानता है, जो 'जानना' साथ ही उन्हें 'आविर्भूत करना' भी है। फूल की पत्ती पर चमकती ओस की बूँद का याथातथ्य यह नहीं है कि वह भौतिक कारण-कार्यता के अधीन वाष्प से जल बन जाती है। यह 'भौतिक' जल तो किसी की प्यास भी नहीं बुझा सकता, क्योंकि प्यास बुझाने के योग्य होने के लिए उसका ऑक्सीजन-हाइड्रोजन के योग के बजाय 'जल' होना और प्राणी की 'प्यास' और 'तृप्ति' से जुड़ना आवश्यक है। भौतिकी की व्यवस्था में तो इसे देखने वाला तक निष्कासित रहता है—यद्यपि आधुनिक भौतिकी ने पाया है कि उस की व्यवस्था देखने वाले को निकाल कर नहीं टिकती। किन्तु तब यह देखने वाला अपने-आप में से निष्कासित रहता है, फिर उसमें वन-देवियों, तितलियों और मधुमक्खियों के समावेश का तो प्रश्न ही कहाँ उठता है!

किन्तु ओस की बूँद इन सबके अस्तित्व की अन्तरंग व्यवस्था की अवियोज्य अंग होती है। इस व्यवस्था को कवि इसका अंतरंग होकर देख पाता है। भौतिक कारण-कार्यता, जो वैश्व ऋत की यथातथता नहीं होकर मनुष्य के संकुचित प्रयोजन के अधीन उद्गृहीत वस्तु-अभ्युपगम मात्र है, वह फूल की पत्ती पर चमकती ओस की बूँद की यथातथता का आकलन कैसे कर सकती है? यह और भी अधिक मनुष्य के सम्बन्ध में सत्य है जो माता, पिता, भाई, बहन, मित्र, शत्रु, प्रेमी, द्वेषी आदि होता है, इन सम्बन्धों से बाह्यतः सम्बन्धित नहीं बल्कि इनसे आन्तरतः परिभाषित, इनसे आन्तरतः घटित होकर। यह भीतरी मनुष्य अत्यन्त जटिल वस्तु है। इसका मूल धर्म ही यह है कि इसका कोई स्थिर धर्म नहीं है, क्योंकि यह स्वयंभू है। यह न उस देश में रहता है जिस देश में यह होता है और न उस काल में जिस काल में यह होता है। अतीत या भविष्यत्, या संश्लिष्ट रूप में दोनों, इसका वर्तमान होते हैं, यह स्वतंत्र शक्ति-सम्पन्न है, किन्तु अधिकांश में यह बड़ा अशक्त और बेबस होता है। इसकी मुस्कान ही को देखो, जो अधिकांश में इसकी मुस्कुराने की असमर्थता को ही प्रकट करती है। इसकी मुस्कान के कितने ही रंग होते हैं—शुभ्र धवल या उजला गुलाबी से लेकर काला तक। वह प्रसन्नता की व्यंजक भी होती है, कष्ट की भी, और विडंबना की भी। यह सरल भी हो सकती है और कुटिल भी। इस सबका याथातथ्य क्या है और यह कैसे आकलनीय है? विज्ञान के पास इसके लिए कोई शब्दावली ही नहीं है और दर्शन के पास इसके लिए कोई अवकाश नहीं है। फिर ये अर्थ (वस्तुएँ) इतने जटिल और विषम हैं कि इनके याथातथ्य को देखना-समझना और इसके लिए उपयुक्त ऋत में इन्हें व्यवस्थित करना मनीषी कवि के अतिरिक्त किसी के लिए संभव ही नहीं है। वास्तव में तो यह ईश्वर ही है जो इस सबके मर्म को जानता है और इन्हें इनका ऋत दे सकता है, किन्तु मनुष्यों में इसे जानने और करने का प्रयत्न केवल कवि ही कर सकता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

है, जितना भी वह कर सकता है—कोई वेदव्यास, कोई वाल्मीकि, कोई कालिदास, कोई तुलसीदास, कोई दांते, कोई शेक्सपीयर, कोई टालस्टाय, कोई रवीन्द्रनाथ ठाकुर, कोई शरच्चन्द्र !

उपनिषद् और बुद्ध, नागार्जुन और शंकर तत्त्व को अनिर्वाच्य या अनभिलाप्य, निर्गुण और निराकार कहते हैं किन्तु काव्य और कलाएँ वाक्, गुणों और आकृतियों में ही अपना तत्त्व और सत्य पाती हैं। उपनिषद् और बुद्ध राग-द्वेष और मानापमान से ऊपर उठने में ही जीवन की सिद्धि देखते हैं, किन्तु काव्य और कलाएँ इन्हीं के अन्तस्तल में प्रवेश कर अर्थों के अपार पारावार का साक्षात्कार करती हैं। कालिदास जबकि काम-शर-विद्ध दुष्यन्त और शकुंतला के परस्पराकर्षण में अगाध सौन्दर्य का साक्षात्कार करते हैं उसी काम को दर्शन और धर्म पाप और पाश के रूप में देखते हैं। किसी शायर का एक शेऽर है—

काज़ी शराब पीने दे मस्जिद में बैठकर
या वो जगह बता जहाँ पर खुदा नहीं।

इसमें खुदा की सर्वव्यापकता बताना अभिप्रेत नहीं है, शायर की इस बात में कोई रुचि नहीं है, यहाँ तो उसकी सर्वव्यापकता में काज़ी के विश्वास को आधार बनाकर निर्बाध शराब पीने को जायज़ कहना अभिप्रेत है। किन्तु कहना मात्र ही अभिप्रेत है, सिद्ध करना नहीं, क्योंकि कवि भी इसे कोई उचित नहीं मानता है, केवल काज़ी की समझ को अनुचित मानता है क्योंकि काज़ी की समझ अपनी नहीं है, ओढ़ी हुई है। धर्म और दर्शन "सुख-दुःखे समे कृत्वा, लाभालाभौ, जयाजयौ" का उपदेश करते हैं काव्य उसी दुःख में अर्थों के अपार पारावार की सृष्टि करता है। यह सही है कि दर्शन और धर्म भी जीवन को जीने की ही नीति बताते हैं, किन्तु उनका ऋजु पथ जिस वर्जित बीहड़ के बीच से होकर जाता है उसके फूलों और काँटों, हरियाली और धूल और पंक का अपना कुछ सौन्दर्य, अपना कुछ सत्य भी है यह कवि और कलाकार ही देख पाता है। यदि इस वर्जित अरण्य में अर्थ-राशि का साक्षात्कार मनुष्य काव्य और कलाओं के माध्यम से नहीं करता और वह केवल धर्म के ऋजु पथ पर ही लक्ष्य की ओर आँखें गड़ाए चलता चला जाता तो वह कितना विपन्न और निरीह रह जाता यह सहज ही देखा जा सकता है। किन्तु मार्ग-हीन अरण्य में विचरने को फल-प्रद वही बना सकता है जो अत्यन्त कुशल और सतर्क हो और जिसे ऋजु पथ का और लक्ष्य का बोध भी हो। कवि वाल्मीकि, वेदव्यास या तुलसीदास ही हो यह आवश्यक नहीं है, यद्यपि यह वरेण्य तो है ही, वह वेश्या सुजान में अनुरक्त घनानन्द, शराब में बेबस ग़ालिब, या वेश्या-जीवन के सत्य का चितेरा लाट्रिक या शरच्चन्द्र भी हो सकता है। किन्तु यह ध्यातव्य है कि घनानंद, ग़ालिब, लाट्रिक और शरच्चन्द्र चित्त की किन्हीं गहरी तहों में वाल्मीकि, वेदव्यास या तुलसीदास होने अनिवार्य हैं, वह हुए बिना वे वह नहीं हो सकते थे जो वे थे—अर्थों के याथातथ्य के सर्जक और अवगाही तथा अनिर्वच तत्त्व का शब्द, रूप और गुणों के लोक में साक्षात्कार करने वाले।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ऋजु मार्ग को छोड़कर बीहड़ अरण्य में विचरने का जोखिम उठाना यही कवि, कलाकार का भाग्य है। वेश्याओं और वारवनिताओं, चोरों और बटमारों, वीरों और कायरों, रामों और रावणों सब की अन्तर्कथा को उनके घट में पैठकर जानना : उनका आत्मकथाकार होना, सबके सुख-दुःख, जय-पराजय में साँझा होना, यह कवि-कलाकार का धर्म है क्योंकि मानव-हृदय में, नहीं, जीव मात्र और जड़ मात्र के भी अन्तर्मन में पैठकर उनके हृत्स्पन्द में परिस्पन्दित होना और साथ ही उससे उतरा कर उसके सत्य का साक्षात्कार करना, कलाकार की कला इसीमें अपनी चरितार्थता पाती है। दरिद्रनारायण और पतितपावन होना, सूली पर चढ़ना और सीता को खोना ईश्वर के लिए यह भी अनिवार्य है, केवल सातवें आसमान पर बैठा रहकर ईश्वर ईश्वरत्व की विपुलता नहीं पा सकता, कवि और मनीषी नहीं हो सकता।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि यह दरिद्रनारायण दरिद्रों से भिन्न कोई नारायण नहीं होता, यह दरिद्रगत नारायणीभाव ही होता है। इसी प्रकार पतित-पावन पतितों को पावन करने वाला दूसरा कोई नहीं होता, पतित-गत पावन-भाव ही होता है, क्योंकि यह सृष्टि ईश्वर की ही सृष्टि है, वही उसका उपादान है और वही निमित्त, वही अर्थ है और वही उन अर्थों का याथातथ्य और ऋत। अर्थों का स्वयं अन्तर्गत धर्म हुए बिना कोई उनके याथातथ्य का विधायक कैसे होगा और वैसा हुए बिना कोई कवि कैसे होगा? वेश्याओं और वेश्यालयों के लाट्रिक के बनाये चित्र क्या कोई बाहर बैठा आलोचक बना सकता है? होरी, धनिया और गोबर की भूख, प्यास और दारिद्र्य में स्वयं तप कर ही कोई गोदान का लेखक हो सकता है। इस तपने के लिए किसी का स्वयं भूखा, प्यासा रहना आवश्यक नहीं है, बल्कि नहीं रहना ही आवश्यक है : बाध्यतावश उसमें रहकर भी जो उसमें नहीं रहे वैसा, जैसे तुलसी के राम थे। उसके लिए केवल उसका तद्भावेन विवर्तित होना आवश्यक है। ऐसा वह भावक कल्पना द्वारा उनकी पीड़ा, कष्ट, उद्विग्नता में अन्तःप्रवेश कर और उन भावनाओं में निहित अर्थों को वाणी देकर करता है। कालिदास ने पार्वती-परमेश्वर से जिस वागर्थ-प्रतिपत्ति की याचना की है वह यही वागर्थ है—अखिल जड़-चेतन के हृदय के साथ तादात्म्य सिद्ध कर उस हृत्स्पंद के अर्थभावेन विवर्त की सिद्धि, जैसे भर्तृहरि का शब्द-ब्रह्म अर्थभाव से विवर्तित होकर जगत् का हेतु बनता है।[4]

यहाँ संक्षेप में काव्यविषयक रस-सिद्धान्त पर विचार करना स्थाने होगा जो हमारे परंपरागत काव्य-विचार में सर्वोत्कृष्ट कहा जा सकता है। हमारे विचार में यह सिद्धान्त अल्पव्याप्ति दोष-ग्रस्त भी है और एक अन्य मूलगामी दोष-ग्रस्त भी। अल्पव्यापक इसलिए क्योंकि यह केवल भावना पक्ष का ही आकलन करता है विचार-पक्ष का नहीं, जबकि महान काव्य और उपन्यास अधिकांश में महान विचार से ही महान होते हैं। यह विचार भावना से सहचरित रहता है, यह बात दूसरी है। महाभारत में तो ख़ैर विचार का ही स्थान मुख्य है, वाल्मीकीय रामायण, तुलसीकृत रामचरितमानस, प्रसाद कृत कामायनी, गोएथे के फाउस्ट,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

टाल्स्टाय के युद्ध और शांति और कालिदास के महाकाव्यों में भी उच्चतम विचार का प्रामुख्य या समावेश है। दूसरे, रस का स्वरूप-विवेचन भी मूल रूप से दोषपूर्ण है। यह सिद्धान्त रस की मनोवैज्ञानिक कार्य-कारणात्मक पदावली में व्याख्या करता है। अभिनव गुप्त दार्शनिक थे, उच्च कोटि के दार्शनिक, इसलिए उन्होंने इसे चेतना के दार्शनिक विवेचन का स्तर भी दिया, किन्तु इसकी मूल भित्ति तो वही भरत मुनि द्वारा प्रतिपादित "विभाव, अनुभाव, संचारी भाव और स्थायी भाव" पर ही टिकी है। यह मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किसी काम का नहीं है यह बड़ी आसानी से दिखाया जा सकता है, किन्तु तब भी इस विश्लेषण को ही स्वीकार करके सब चलते रहे हैं। उदाहरणतः अभिनव गुप्त ने महाभारत को शान्त रस का महाकाव्य कहा है, किन्तु किन अनुभावों और संचारी भावों के आधार पर ऐसा कहा जा सकता है? कौन से संचारी भाव हैं जो उसमें नहीं हैं? किसी एक प्रसंग को ही लें, जैसे द्रौपदी का चीर-हरण। यहाँ विभाव क्या है? द्रौपदी के चीर-हरण का दृश्य या प्रसंग? किन्तु वह अपनी पूरी पृष्ठभूमि से अलग कैसे किया जा सकता है? और वह पृष्ठभूमि क्या है? उस पृष्ठभूमि का मुख्य घटक द्यूत-क्रीड़ा है या कि भीष्म, द्रोण आदि की विवश उपस्थिति, या कि दुश्शासन द्वारा द्रौपदी को निर्वस्त्र करने का प्रयत्न? या कि वह भयानक सडांध जिसे महाभारतकार उस सारे सामाजिक पतन में से उठती दिखा रहा है? वह पृष्ठभूमि इतनी जटिल है कि वह प्रत्येक पाठक या दर्शक के मानसिक स्तर के अनुसार ही कल्पित होगी और वह भी अत्यन्त अनिश्चित रूप से। फिर इसमें स्थायी भाव कौन सा है? इसमें किस रस की निष्पत्ति अभिप्रेत है? उसका अनुमान संचारी भावों से करेंगे या कि संचारी भावों का अनुमान रस से करेंगे? फिर, वहाँ क्या भाव ही प्रसंगोपात्त हैं, विचार नहीं? वहाँ सारा प्रसंग तो कर्मों के औचित्य-अनौचित्य का ही है, भाव तो उस औचित्य-अनौचित्य के निर्णय का ही आश्रयी होगा, वहाँ स्वयं से भाव का स्वरूप क्या बनेगा? ये सब प्रश्न रस-विचार को काव्य के स्वरूप को समझने के लिए अनुपयुक्त दिखाते हैं।

अभिनव गुप्त द्वारा इसके विवेचन का दार्शनिक पक्ष अवश्य गंभीर अन्तर्दृष्टि का परिचायक है किन्तु उसमें दो पक्षों में आपत्ति के लिए अवकाश है। उनके एतद्विषयक दार्शनिक मत को पांडे जी के शब्दों में इस प्रकार रखा जा सकता है—"कला-विषय सहृदय-मानस की कल्पना का आलंबन बन उसके अन्तःस्थ भाव को निर्वैयक्तिक रूप से व्यक्त करता है। यह भाव ही तन्मयता से आस्वाद्य होता है। यह आस्वाद या रस चिदावरण-भंग ही है किन्तु यह भावोपाधिक और सालंबन होता है। इसे चिद्विशिष्ट भाव अथवा भावविशिष्ट चित्, इन दो प्रकारों से समझा जा सकता है। (द्र. पंडितराज जगन्नाथ रसगङ्गाधर, रस प्रकरणम्) हम यह कहना चाहेंगे कि दोनों ही प्रकारों में भावगर्भस्थ एवं वासनाविषयों में ममत्वाभिमानी 'मैं' तात्कालिक रूप से स्वयं अपना द्रष्टा बन जाता है।"[5] इस प्रतिपादन में 'चिदावरण-भंग' और 'ममत्वाभिमानी 'मैं' का अपना द्रष्टा आप बनना'

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

बहुत महत्त्वपूर्ण अवधारणाएँ हैं, किन्तु ये सृजनात्मक विचार में और नैतिक बोध में उतनी ही होती हैं जितनी काव्य-सृजन या काव्यास्वादन में होती हैं।

किन्तु काव्य और अन्य कलाओं को आस्वाद्य रूप में देखना हमारे विचार में उनके साथ अन्याय करना है और इसी में काव्य-विषयक रस-सिद्धान्त की अनुपयुक्तता प्रकट होती है। सर्वप्रथम तो इसमें स्वयं प्रतिपादनगत विसंगति ही देखी जा सकती है कि चिदावरण-भंग के उपरान्त आनन्द रूप में प्राप्त रस आस्वादन का विषय नहीं हो सकता, फिर चाहे यह चैतन्य भावोपाधिक ही क्यों नहीं हो, क्योंकि यहाँ भाव उस चित् की उपाधि है जो आवरण से मुक्त हो गया है। अर्थात् यह उपाधि स्वेच्छया स्वीकार की गई है—आनंद के आस्वादन के लिए? किन्तु आनंद क्या आस्वाद्य होता है? इसके उत्तर में अभिनव की निम्न परिभाषा प्रस्तुत की जा सकती है—"तथा च मधुरादौ रसे औदारिकाभ्यवहार वैलक्षण्येन प्रवृत्त इदमित्थमिति प्रमातरि विश्रमयन्प्रमातृभागमेव प्रधानतया विमृशन् भुंजान इत्युच्यते।"[6] यहाँ स्पष्ट है कि अभिनव गुप्त 'आस्वाद' शब्द का प्रयोग मनोदैहिक संवेदन के रूप में नहीं कर रहे हैं और इससे विसंगति का परिहार हो जाता है, किन्तु पूरी तरह नहीं, क्योंकि रस को वे भरत के समान ही संचारी भावों और स्थायी भावों से जोड़ते हैं, इसके अतिरिक्त वे मधुरादि रसों के आस्वाद-विमर्श की बात ही कह रहे हैं और उसे भोजनासक्त (औदारिक) से उपमित कर रहे हैं।

किन्तु इसकी दूसरी कठिनाई अधिक महत्त्वपूर्ण है, कि यह सिद्धान्त काव्य को भावना तक सीमित करता है जबकि काव्य में विचार का स्थान उतना ही महत्त्वपूर्ण होता है। अवश्य इसमें विचार विषय-विवेचन रूप में नहीं होता बल्कि विषयिता की अभिव्यक्ति के रूप में ही होता है, किन्तु तब भी वह होता विचार ही है। इसके अतिरिक्त, बहुत बार संपूर्ण काव्य-रचना ही किसी विचार के निरूपण के निमित्त से होती है, जैसे टाल्स्टाय का उपन्यास **युद्ध और शांति** इतिहास की व्यक्तियों के प्रयत्नों से स्वतंत्र गति का निरूपक है, इसी प्रकार श्री अरविन्द का **सावित्री** और जयशंकर प्रसाद का **कामायनी** विचारमूलक काव्य ही हैं। यहाँ आत्मकथाओं को भी उदाहरण रूप में लिया जा सकता है—अधिकांश आत्मकथाएँ लेखक की वैचारिक रूप से कल्पित आत्म-प्रतिमा की निरूपक ही होती हैं। इसमें महात्मा गान्धी की आत्मकथा **सत्य के प्रयोग** सर्वोत्कृष्ट उदाहरण कही जा सकती है। यह सब रस-विचार को काव्य के स्वरूप को समझने के लिए अनुपयुक्त दिखाता है। सब रस-सिद्धान्ती दुष्यन्त की शकुंतला को देखकर उत्पन्न रति को ही उदाहरण रूप में प्रस्तुत करते हैं। किन्तु काव्य केवल ऐसे वर्णनों तक सीमित नहीं है। **कुमारसंभव** महाकाव्य का महत्त्व शिव की पार्वती के साथ काम-क्रीड़ा के वर्णन में नहीं है और न **रामचरित मानस** का महत्त्व शृंगार, करुण आदि भावोत्पादक दृश्यों और स्थितियों के विदग्ध निरूपण में। काव्य और अन्य कलाओं में भाव को एक महत्त्वपूर्ण घटक तो कहा जा सकता है किन्तु उसे आधारभूत या व्यावर्तक नहीं कहा जा सकता। कलाओं में यह केवल संगीत में आधारभूत होता है। चित्र, मूर्त्ति आदि कलाओं में कोई कृति विचार-प्रधान हो सकती

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

है, कोई भाव-प्रधान। उदाहरणतः बुद्ध या गान्धी या आईंस्टाईन की मूर्त्ति या चित्र में व्यंग्य इन का वास्तविक या कल्पित संपूर्ण चरित्र ही होगा, कोई भावना नहीं, यही बात उपन्यास में होती है, यह बात दूसरी है कि कोई कवि या उपन्यासकार इनकी भी सेक्स-लाइफ को ही उपन्यास के लिए उपयुक्त विषय माने। काव्य और कलाओं का व्यावर्त्तक लक्षण विषयि-परकता, विषयि-परक अर्थावगाहन, विषयिपरक अर्थों की याथातथ्यता की अभिव्यक्ति है। इसमें विचार भी विषयिता के पक्ष में ही रहता है। भगवद्गीता में कृष्ण विचारते हैं, अर्जुन प्रश्न करते हैं।

इधर साहित्य में यथार्थवाद की बहुत चर्चा है और उसके नाम पर सामाजिक और वैयक्तिक कुरूपता, दुराचार, अन्याय और हिंसा के प्रदर्शन को सुन्दर, सदाचार आदि के चित्रण पर वरीयता दी जाने लगी है। किन्तु उत्कृष्ट कृतियों में यह वरीयता अधिकांशतः केवल प्रकट में ही होती है, उसका व्यंग्य उस स्थिति की अवांछनीयता और कुरूपता का प्रदर्शन और उसके निवारण के लिए क्षोभ उत्पन्न करना ही होता है, क्योंकि अर्थों का याथातथ्य : सत्य : वस्तुस्थिति की कुरूपता में नहीं होता बल्कि उसके वैपरीत्य में ही होता है। जगत् के लिए ईश्वर की और जगत् में कवि की आवश्यकता इसी के लिए है। कुछ कवि-यशःप्रार्थी अवांछनीय और कुरूप को ही याथातथ्यरूपेण प्रस्तुत करते हैं और "कला का उद्देश्य नैतिकता का पाठ पढ़ाना नहीं है" इसे सिद्धान्त का रूप देकर अनैतिकता को ही याथातथ्य के रूप में और कामुकता को सुन्दर के रूप में प्रस्तुत करते हैं। अपने इस व्यवहार का आधार वे इस 'उच्च' सिद्धान्त को बनाते हैं कि कला नैतिकता-अनैतिकता से तटस्थ होनी चाहिए। किन्तु मानव-चेतना के लिए यह ताटस्थ्य संभव नहीं है। कोई भ्रांतिवश अतथ्य को याथातथ्य और अनैतिक को गहनतर नैतिक समझ सकता है, किन्तु वह उसे नैतिकता से तटस्थ रहकर नहीं देख सकता। अवश्य वह कला में अपने इस आग्रह को स्थगित भी कर सकता है, किन्तु वैसा वह *तथ्य के सत्य को* शिव और सुन्दर की संगति में उच्चतर धरातल पर साधने के लिए ही कर सकता है। प्रथमतः, काव्य के विषय होने वाले तथ्य भौतिक वस्तु-परक या भौतिक घटना-परक नहीं होते, वे जीवन-विषयक ही होते हैं, और इन जीवन-विषयक तथ्यों की सत्यता अनिवार्यतः शिव और सुन्दर से शासित होती है, उनका शिवत्व और सौन्दर्य तथ्य से शासित नहीं होता। इसीसे कला में लौकिक तथ्यता का स्थगन स्वीकार्य होता है। किन्तु उसके लिए शिवत्व का स्थगन संभव नहीं है, क्योंकि मनुष्य-जीवन की, और वास्तव में वैश्व ऋत की भी, नींव शिव पर प्रतिष्ठित है। उदाहरणतः दुष्यन्त के शकुन्तला के प्रति प्रेम के चित्रण में कालिदास के पास दो ही विकल्प हो सकते थे—कि या तो वे उसके द्वारा शकुन्तला के अस्वीकार में उसकी गर्हणा करते या फिर वे दुर्वासा के शाप का आक्षेप करते, जैसाकि उन्होंने किया; *क्योंकि प्रेम के तथ्य का सत्य प्रेमी में प्रेमिका के प्रति पूर्ण सच्चाई और पूर्ण आत्म-त्याग को पूर्वापेक्षित करता है।* उनकी पारस्परिकता के बीच, या एक के दूसरे के प्रति समर्पण में 'लोक-लाज, कुल की मर्यादा'

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

बाधा रूप में स्वीकार नहीं किये जा सकते। यह सत्य उससे कहीं अधिक अप्रत्याख्येय है जितनी प्रत्यक्षगत वस्तु की विद्यमानता अप्रत्याख्येय हो सकती है।

यहाँ यह स्पष्टीकरण अनिवार्य है कि कवि के लिए शिव का मानदंड धर्म-नीतिपरक प्रचलित धारणाएँ नहीं हो सकतीं। ये धारणाएँ जन-साधारण के लिए ही पालनीय होती हैं। सृजनात्मक धर्म-द्रष्टा भी उनसे नहीं बँधता। वर्ण या जाति-व्यवस्था का उल्लंघन जन-साधारण के लिए स्वीकार्य नहीं हो सकता किन्तु बुद्ध या कबीर के लिए वे नियामक नहीं हैं, और बुद्ध या कबीर के नियमन में जन-साधारण भी उनका उल्लंघन कर सकते हैं। भारतीय काव्य-परम्परा ने इसके आदर्श के रूप में श्री कृष्ण की रचना की है। किन्तु समाज-धर्म का पालन भी सृजनात्मकता के उच्चतम धरातल का कैसे प्रापक हो सकता है इसके उदाहरण के रूप में इस परंपरा ने राम की रचना की है। किन्तु कृष्ण के परकीया-प्रेम के चित्रण में कवि के पास यह विकल्प नहीं है कि कृष्ण राधा के प्रति प्रेम नहीं होने पर भी प्रेम का अभिनय करें, या लोक-लाजवश अथवा कुल की मर्यादा के विचार से राधा को छोड़ दें। उसके पास इसका एक ही विकल्प हो सकता है, कि वह यह दिखाये कि कृष्ण राधा से परकीया-प्रेम नहीं करते थे बल्कि उन्होंने उससे विवाह किया और वे राम के समान ही एक-पत्नीव्रत थे। किन्तु इस विकल्प का उपयोग ऐसे तथ्य का सृजन होगा जो सत्य के गहनतर रूप के साक्षात्कार की असामर्थ्य से प्रतिफलित होता है और इसी से जो शिव और सुन्दर को गहनतर स्तर पर देख पाने से भी वंचित रहता है। यदि कोई कवि किसी पात्र को प्रेम में, अथवा अन्य व्यवहार में झूठा दिखाता है तो वह केवल इसी रूप में ऐसा कर सकता है कि उसका व्यंग्य वहाँ यह दिखाना हो कि अशिव से तथ्य कैसे असुन्दर, और असत्य भी, हो जाता है। इस दृष्टि के उज्ज्वलतम उदाहरण रामायण और महाभारत में देखे जा सकते हैं। सौन्दर्य द्वारा सत्य की सिद्धि के उदाहरण श्रीमद्भागवत, जायसी के पद्मावत, और हीर-रांझा की कथा प्रस्तुत करते हैं।

दुर्भाग्यवश अशिव को अशिव या असुन्दर को असुन्दर देख पाने वाली दृष्टि अधिकांश कवियों में उतनी स्पष्ट नहीं होती, जैसे लोक-व्यवहार में अधिकांश व्यक्तियों और समाजों में यह नहीं होती। लोक में दृष्टि की सम्यक्ता सबसे अधिक दुर्लभ है और दृष्टि होने पर अपने जीवन के तथ्य को सत्य बना पाने की सामर्थ्य सबसे दुर्लभ है। मनुष्य-जीवन में यह हम सर्वत्र देखते हैं। मनुष्य की यही असफलता उसके काव्य और दर्शन में भी प्रकट होती है। इस दृष्टि से जो जीवन में सफल होते हैं उन्हें हम महात्मा कहते हैं। यदि वे कवि हैं तो उनका काव्य भी उसी प्रकार सफल और महत् होता है। किन्तु कुछ ऐसे भी होते हैं जो दृष्टि के स्वच्छ और गहरी होने पर भी अपने निज के जीवन के तथ्य को सत्य नहीं बना पाते। ऐसे लोग कवि होने पर उत्कृष्ट काव्य की रचना कर पाते हैं, उनका जीवन चाहे उतना उत्कृष्टि नहीं भी हो। ग़ालिब इसके उत्कृष्टतम उदाहरण कहे जा सकते हैं। या ऐसा भी कह सकते हैं कि ऐसे असाधारण व्यक्तियों की चेतना के रचना-संश्लेष में उनके बाह्याचार साधारण मानदंडों से मापनीय नहीं होते। वास्तव में यह बहुत दूर तक सही भी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

है। किन्तु इसके साथ ही यह भी सही है कि मनुष्य की चेतना अनेक विभागात्मक और अनेक स्तरात्मक होती है और ये विभाग तथा स्तर बहुत बार परस्पर बहुत विरुद्ध जैसे भी दिखायी देते हैं। कोई व्यक्ति विषय-विश्लेषण-बुद्धि में अत्यन्त प्रखर होने पर भी नैतिक विवेक में कुंठित हो सकता है, नैतिक विवेक में पारदर्शी होने पर नैतिक आचरण में भ्रष्ट हो सकता है, नैतिक आचरण में मर्यादित होते हुए अन्तर्मन में अमर्यादित हो सकता है, आदि। इस सबका क्या तर्क होता है, इस पर यहाँ विचार प्रासंगिक नहीं है। इसमें निश्चित रूप से कुछ कहा भी नहीं जा सकता। किन्तु इसका तर्क आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञान की व्यवहारवादी दृष्टि या मनोविश्लेषणवादी दृष्टि के अनुसार विवेच्य हो सकता है, ऐसा हमें नहीं लगता। इसे यहाँ हम 'है जैसा तैसा रहै, कहै कबीर विचारि' के अनुसार छोड़ रहे हैं।*

पी-51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर

सन्दर्भ

1. यहाँ 'सत्य' शब्द का प्रयोग 'तथ्य' या 'तथ्यानुरूप' के अर्थ में नहीं किया जा रहा है जैसाकि साधारण प्रयोग में इसका अर्थ होता है। यों इस प्रयोग में भी इसका अर्थ उतना सरल नहीं होता, जैसे, 'यह व्यक्ति सत्यपरायण है', 'विज्ञान वस्तु-सत्य का अनुसन्धान करता है', 'धर्म जीवन-सत्य का प्रापक होता है' में 'सत्य' शब्द के प्रयोग उस प्रकार से नहीं हुए हैं जैसे 'तुमने अमुक को अमुक स्थान पर देखा था?' के उत्तर में इसका प्रयोग होता है।
2. जिनकी इस प्रश्न में अधिक आगे जाकर देखने में रुचि हो वे हमारी **सत्ताविषयक अन्वीक्षा** के अध्याय 2-3 देखें।)
3. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्द-तत्त्वं यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥
4. (प्रो. गोविन्दचन्द्र पांडे—मूल्यमीमांसा, पृ. 202, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1972. पांडेजी ने अभिनव के रस-विवेचन पर मूल्यमीमांसा के अतिरिक्त भारतीय परंपरा के मूल स्वर, **भक्तिदर्शन-विमर्शः** और **सौन्दर्य-दर्शन विमर्शः** में भी बहुत सूक्ष्म विचार किया है और इस विचार को आगे बढ़ाया है।
5. मधुरादि रस में औदारिक (भोजनाकांक्षी) जैसे प्रवृत्त होता है और प्रमाता के रूप में उसका विमर्श करता है, उससे वह उसका 'भोग करने वाला' ऐसा कहा जाता है। (**अभिनव भारती**)
6. इसके विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य यशदेव शल्य — **चिद्विमर्श** अ. 6, **सत्ताविषयक अन्वीक्षा**, अ. 15, तथा **मूल्यतत्त्व मीमांसा**, अ.6-8। प्रथम और तृतीय पुस्तकें दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर से और द्वितीय भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली से प्रकाशित।

* बहुवचन पत्रिका के प्रथम अंक से साभार। यहाँ यह किंचित् संशोधित और संवर्द्धित रूप में प्रकाशित किया जा रहा है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

धर्म और नीति : मानव-कर्म के सन्दर्भ में

मुकुन्द लाठ

पिछले लेख में जहाँ ठहरा था उसका कुछ सिंहावलोकन-सा करता हुआ आगे बढ़ता हूँ। इन्द्रिय-बोध को प्रामाणिक बोध मात्र का आधार मानने का आग्रह हमारी सहज वृत्ति भी है और विचार की तर्कनिष्ठ वृत्ति भी—जिसका आग्रह आज विज्ञान के कारण और भी उग्र है। पर इन्द्रियों को बोध नहीं होता, वह तो एक प्राण-स्पन्द है, चेतना से न जुड़े तो इन्द्रिय-बोध की बात ही नहीं हो सकती। इन्द्रियाँ जब चेतना से ही नहीं आत्मचेतना से भी जुड़ती हैं तो बोध की सीढ़ियाँ खुलती दिखती हैं। अध्यात्म की बात नहीं कर रहा हूँ। हमारी साधारण आत्मचेतना को ही बोध के स्तर-भेद उजागर होते दिखते हैं।

संकेत कर आया हूँ कि हम अपने ज्ञान का आधार—प्रमा-ज्ञान का आधार—केवल इन्द्रियों को ही मानें तो वस्तुओं की हमारी पकड़ अधूरी होगी, पंगु होगी। औचित्य-बोध जैसा कोई चेतना का आयाम तो फिर हमें मिलेगा ही नहीं। पर यह न हो तो ज्ञान और उसके विषय वस्तु-सत्य, इनकी बात ही निरर्थक होगी। विचार की यात्रा का पहला पाँव ही नहीं उठेगा। विचार में हमें आत्म-चेतना के ऐसे क्षेत्र का अनायास ही बोध होता है जहाँ औचित्य-बोध का मानो इन्द्रियों से स्वतन्त्र स्वाराज्य हो। तर्क के विशुद्ध ऊहापोह में तो यह बहुत ही प्रकट है। भावना और कर्म के क्षेत्र में भी हम औचित्य साधते ही हैं। लेख के अन्त में मैंने भोक्तृ-चेतना में स्तर-भेद की ओर इंगित किया था। भोक्तृ-चेतना अनुभव मात्र में उजागर रहती है। यों कह सकते हैं कि अनुभव को उजागर करती है। अनुभव का प्राण उसका 'भावन' है। भावन का जगत् विस्तृत है : वेदना, संवेदना, और जिसे हम 'सुख-दुःख' के छोटे से, अक्षम से, नाम में समेट लेना चाहते हैं, भावों का वह पसारा—हर्ष, आनन्द, पीड़ा, व्यथा, विरह, भय, जुगुप्सा, इन्हें हम 'भोगते' हैं। ज्ञान को या विचार को हम भोगते नहीं। कहना न होगा कि भोक्तृ-भाव का इन्द्रियों से भी सम्बन्ध निबिड़ है। इन्द्रियों के माध्यम से हम जानते ही नहीं, इन्द्रियों के माध्यम से हम भोगते भी हैं। पुराने लोग इसे ही विषय-भोग कहते थे। और ठीक ही कहते थे। इन्द्रियों का विषय प्रधानतया भोग-विषय ही होता है—ज्ञान-विषय तो वह चेतना के लिए तब होता है जब चेतना भोक्तृभाव से हट जाती है या उठ जाती है। हम पाते हैं, और अपने बोध में ही पाते हैं कि आत्म-चेतना के लिए ही यह सम्भव है। हमें यह भी लगता है कि ज्ञातृ-भाव के विपरीत भोक्तृ-भाव मानो आत्म-चेतना का क्षेत्र नहीं है, वह विषय-गत, विषयमग्न ही रहता है। इन्द्रिय-विषय के बिना उसकी कल्पना ही जैसे खड़ी नहीं हो सकती। विचार-विषय में भी होता है पर विचार का विषय इन्द्रिय-परक हो भी तो भी जैसे स्वरूप से ही निरिन्द्रिय

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

होता है। और तर्क के अपने उपपत्ति-गत औचित्य के लिए तो विषय का इन्द्रिय-प्रदत्त रूप में या किसी भी रूप में 'होना' तक आवश्यक नहीं।

पर भोक्तृचेतना के भी स्तर होते हैं—जिनकी चर्चा मैंने पिछले लेख के अन्त में की थी। वह चर्चा मैं सोचता हूँ, थोड़ा विस्तार चाहती है, थोड़ा और सूक्ष्मावलोकन चाहती है। इसके लिए मैं कुछ कुछ प्राचीन रस-चर्चा का पंथ अपनाता हुआ आगे बढ़ूँगा। भरत को लीजिये। भरत नाटक में रस की बात उठाना चाहते हैं और वहाँ भूमिका में भोजन की और भोजन के रस की बात करते हैं। दोनों में साधर्म्य देखते हैं। अब देखिये, सुनने में ही बात अटपटी लगती है—माना कि जीभ के भी छः रस होते हैं—मीठा, खट्टा, कड़ुवा, कसैला आदि..., और भी होंगे! पर कहाँ जीभ का 'स्थूल' रस और कहाँ नाटक का सूक्ष्म अनुभव, चाहे इसे भी 'आस्वाद' ही कह लीजिये। दयाजी एक दिन कह रहे थे कि उनको बात अटपटी ही नहीं विचारहीन सी ही लगती है। पर भोक्तृभाव की दृष्टि से देखिये, जैसाकि भरत देख रहे थे और उनकी विवेचना में स्पष्ट ध्वनित है। परवर्ती चर्चा से बात और स्पष्ट हो जाती है, जहाँ नाट्य-साहित्य—और कलामात्र—के रसानुभव-विमर्श में भोक्तृभाव को केन्द्र में रखा जाता है। प्रश्न उठ सकता है कि साहित्य और कला के बोध को क्या भोक्तृभाव की 'आस्वाद'-परक विवेचना में रख कर देखना भी उचित है? आज यह प्रश्न पुरानी रस-विवेचना के प्रति दृष्टि को ही कसैला कर देता है। अभी सम्प्रति लिखे काव्य-तत्त्व शीर्षक लेख में शल्य जी ने रस-सिद्धान्त में प्रज्ञा का प्रकाश देखते हुए भी उस पर प्रहार किया है कि वहाँ 'आस्वाद' बहुत छाया हुआ है, जो कला के अन्य 'सद्' पक्षों की ओर आँख मूँद लेता है।

बात में सत्य है। कितना? यह प्रश्न यहाँ नहीं उठाऊँगा। यहाँ मैं आस्वाद की ही बात को लेना चाहता हूँ। हम रस-चर्चा पर आस्वाद-निष्ठ होने का जब आक्षेप करते हैं तो क्या यह अभिप्राय होता है कि कलानुभव में आस्वाद जैसा कोई तत्त्व ही नहीं? ऐसा कोई शायद ही कहेगा। साहित्य को एक बार छोड़ दें तो दूसरी कलाओं का अनुभव बड़ा इन्द्रिय-परक होता है—कुछ वैसा ही जैसा भोजन। भोजन के आस्वाद की शब्दावली भी कला के अनुभव को समझने-समझाने में सार्थक जान पड़ती है : 'बड़ा मीठा काम है, कुछ चाशनी ज़्यादा है', 'बड़ी कड़वाहट है कलम में (या तूली में)', 'बड़ा लावण्य है', या अच्छा न लगे तो 'दांत खट्टे हो गये'। रसना ही की नहीं, घ्राण और स्पर्श की शब्दावली भी ऐसे ही काम में आती है : 'रूखा है', 'चिकना है', 'ऊबड़-खाबड़ है', 'घना है', 'झीना है' या 'इसमें एक महक है' 'उदासी की गंध है'। कहना न होगा कि प्रयोग लाक्षणिक होता है। पर यहाँ लक्षणा के पीछे एक अभिधा भी होती है। रसना, घ्राण और त्वचा के जिन गुणों की यहाँ चर्चा है वे इन्द्रिय-गोचर गुण हैं; उनका हमें प्रत्यक्ष होता है। सच है कि चेतना न हो और उसमें विषय से अलग हटने की शक्ति न हो तो 'बोध जैसा कुछ' नहीं होगा। फिर जैसे बोध की हम बात कर रहे हैं वह तो भाषा-मुखर है—'विकल्प' कहलाता है। उसके लिए तो चेतना ही नहीं आत्मचेतना अपेक्षित है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

रसना, घ्राण, त्वचा, चेतना इनमें जैसे डूब सी जाती है। हम कहते हैं, तन्मय हो जाती है—अपनी पहचान खोकर विषय में खो जाती है। पर हम आत्मचेतन होकर ऐसा कहते हैं। कथन सापेक्ष होता है और लाक्षणिक। हम सम्पूर्ण तन्मय नहीं होते—हों तो 'तत्' ही हो जायेंगे, 'तत्-मय' नहीं होंगे, जहाँ कि तत् की चेतना जागती रहती है। और आत्मचेतना भी जागती रहती है—चाहे कितनी ही ओझल-सी लगे। क्योंकि आत्मचेतना न जागती होती तो हम तन्मय होने की बात ही नहीं करते। इससे भी बड़ी बात यह है कि तन्मयता केवल 'होने' की ही बात नहीं है, हम उसे 'साधते' भी हैं, यह करने की भी बात है। यह करना 'नशा करना' जैसा करना भी नहीं होता, जहाँ हम आत्मचेतना के किसी बोध को श्लथ कर देना चाहते हों, या उसके बंधन से या उसके 'शिकंजे' से छूटना चाहते हों। इस करने में कृतित्व होता है, शिल्प होता है। शिल्प, रस, गंध इनकी कलायें हैं जिनकी कृतियाँ साधी जाती हैं, जिन्हें सभ्यता आरंभ से साधती रही है। सभ्यता जितनी ही विदग्ध रसिक-भाव में आत्मचेतन होती है उतना ही इनमें वैचित्र्य, वैपुल्य भी साधती है। आस्वाद के लिए ही साधती है। साधकों का मोल करती है और नये नये आस्वाद की साधना भी करती है। रसना, घ्राण और त्वचा की नई कृतियों में हम कृती की प्रतिभा की भी परख करते हैं—वैसे ही जैसे साहित्य, संगीत, मूर्त्तिशिल्प में। यही नहीं, किसी नये 'सूक्ष्म', 'अपूर्व', 'अद्भुत', 'दुनिया से न्यारे', आस्वाद को पाने के लिए हम स्वाद के अपने पुराने संस्कारों से निकलने का संकल्प-प्रयत्न भी करते हैं।

स्थिति कुछ-कुछ वैसी ही है जैसी उन कलाओं में होती है जिन्हें हम 'ललित' कला कहते हैं : साहित्य, संगीत, चित्र, स्थापत्य, मूर्त्तिकला। पर हम समझते हैं—'जानते' हैं कि यह साम्य ऊपर ऊपर ही मंडराता हुआ साम्य है। साहित्य, संगीत, चित्र ... यहाँ बोध का स्तर ही और होता है; भेद ऐसा होता है जिसे भूमि-भेद भी कहें तो अनुचित न होगा। भोजन, गंध, स्पर्श इनके शिल्पों में हम जो साधते, ढूँढते हैं उसे 'रुचि' का नाम दिया जा सकता है। या नाम जो भी दें, यहाँ बात—या यों कहिये कि यहाँ साध्य का प्रमाण, उसकी कसौटी—इन्द्रिय-बोध ही होता है। साधना में आत्म-चेतन शिल्प हो, रुचिबोध में एक खोज की व्यग्रता हो, हम इन्द्रिय-चेतना के ऊपर चेतना के किसी ऊर्ध्वतर-कोश में अपने-आप को पाते हैं। यहाँ आत्म-चेतना अपने-आप को अधिक आत्मस्थ भी पाती है। इन क्षेत्रों को विचार के समकक्ष रखा जा सकता है—रखा भी जाता है। तभी इन्हें अन्य 'विनोद' मात्र की चौंसठ कलाओं से अलग करने के लिए 'ललित' की संज्ञा दी जाती है। पुराना श्लोक है, सबने सुना है : 'साहित्य संगीत कलाविहीनःसाक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः'। प्रकट है कि यहाँ 'कला' से अर्थ उन्हीं 'ललित' कलाओं से है जिन्हें हम साहित्य, संगीत के समकक्ष रख सकते हैं। 'पशु' से इंगित इन्द्रिय-मात्र-वृत्ति से है या इन्द्रियभोगप्रधान वृत्ति से है। साहित्य, संगीत का इसी से व्यावर्त्तन किया गया है। इन्द्रिय-वृत्ति कलाओं को हम एक अर्थ में निर्विकल्प-धर्मी भी कह सकते हैं। यहाँ आत्मचेतना उजागर, सचेत रहते हुए भी इन्द्रिय-बोध के ऐसे विशेष से सराबोर रहती है कि विकल्प वहाँ होते हुए भी अपना

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सही आकाश, सही विस्तार, सामान्य की ओर उन्मुख सही स्वधर्म, नहीं पाता है। हाँ, हम यह शायद कह सकते हैं कि रसना, घ्राण, स्पर्श की इन्द्रिय-वृत्ति कलाओं के 'प्रत्यक्ष' में आत्मचेतना चाहे तो यह बात बड़े खरे उभार के साथ, बड़े जीवन्त रूप में देख सकती है कि इन्द्रियबोध का सघन और इन्द्रियमय होना भी आत्म-चेतना को विशिष्ट के तत्-विशेष में नहीं डुबा सकता। एक विडम्बना—या उलटबाँसी कहिये—जागती रहती है कि हम भोग के विषेष में डूब ही इसलिए पाते हैं—और उसे शिल्प में साध भी इसीलिए पाते हैं—क्योंकि हम पूरे डूबते नहीं हैं, आत्मबोध में तैरते हुए ही डूबते हैं। बिहारी की एक उक्ति है, 'जिन बूड़े तिन तिरे'। जिस दोहे में यह है वहाँ 'बूड़ने' की ही महिमा है—जो आस्वाद में सचमुच डूबता है (तन्यम हो जाता है) वही उसको 'समझता' है। बात सच है और कविता के लिए ही नहीं, इन्द्रिय-बोध के लिए भी सच है। पर एक बात देखिये, जिधर बिहारी का ध्यान शायद नहीं था। जहाँ तक समझ की बात है—आस्वाद के आस्वाद-बोध की बात है—जो तैर सकता है वही है जो सचमुच डूब भी सकता है। नहीं तो डूबने का कोई बोध नहीं होगा—जिस आस्वाद के लिए हम डूबते हैं वही नहीं होगा। भोक्तृभाव की आत्मचेतना ही अपने को खोने में पा सकती है और तभी उसके लिए खोने का भोग है, चाहे यह भोग विलास मात्र ही क्यों न हो। विचित्र है कि हमारे ज्ञातृत्व में, आत्मचेतना में, यह बोध ऐसे विरोध, ऐसी अदम्य उपस्थिति के साथ नहीं आता जैसाकि भोक्तृत्व के तन्मय-भाव की साधना में उभरता है। ज्ञातृत्व के लिए प्रत्यक्ष का 'निर्विकल्प' उसके विकल्प-बोध का एक विकल्प ही होता है—बुद्धि की एक स्थापना, एक उद्ग्रहण। निर्विकल्प धारणा का विशेष होता है—ऐसा नितान्त विशिष्ट जो विकल्प के लिए एक विकल्प-बाहर संकेत मात्र हो—सामान्य से बिल्कुल अछूता वह बोध जो इन्द्रिय विशेष काल के क्षण-विशेष और देश के बिन्दु-विशेष पर ग्रहण करती है। सोचने की बात यहाँ यह है कि यह बोध-विशेष, या विशेष का यह बोध, बुद्धि ग्रहण नहीं करती, इन्द्रिय ग्रहण करती है। बुद्धि के लिए तो विशेष एक सामान्य धारणा या प्रत्यय ही हो सकता है। ज्ञान के लिए हम उस विशेष का वर्णन, विवरण, विवेचन—लक्षण—भी कर सकते हैं। माध्यम या द्वार यहाँ इन्द्रिय ही होगी पर यहाँ विकल्प का बुद्धि-लोक और भी उजागर होगा—इन्द्रिय से दूरतर होगा। दिखेगा कि इन्द्रिय कुछ कर रही है तो यही कि संकेत ले रही है। बल्कि यह भी कहना ठीक नहीं होगा कि इन्द्रिय कोई संकेत 'ले' रही है। शायद यों कहें तो ज़्यादा ठीक होगा कि इन्द्रिय संकेत 'दे' रही है। 'लेने' में जो 'ग्रहण' का भाव है वह हमारे ज्ञातृत्व में इन्द्रिय-क्षम नहीं होता। इन्द्रियाँ क्या और कैसे संकेत ग्रहण करती हैं, ज्ञातृत्व के लिए यह एक पहेली ही होती है। बुद्धि इसके उत्तर ढूँढती है। अपनी खोज में इन्द्रिय को माध्यम बनाती है। पर इन्द्रिय यहाँ, इस प्रक्रिया में अपने आप को 'प्रकट' नहीं करती। इन्द्रिय अपने आपको 'जनाती' नहीं है, बुद्धि उसे 'जानती' है, और विकल्प-बोध के 'सामान्य' की धरती पर ही जानती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इन्द्रियों का हमें कहीं अनुभव होता है तो भोक्तृत्व में ही होता है। वह सचमुच मानो इन्द्रियगत ही नहीं, इन्द्रिय-गर्भ भी होता है। इन्द्रियमय। हम कहते इन्द्रियों को 'ज्ञानेन्द्रिय' हैं पर कहना 'भोगेन्द्रिय' चाहिये। इन्द्रियों का अपनापन कहीं उभरता है तो भोग में। इन्द्रियों को 'कर्मेन्द्रिय' भी कहते हैं, उस पर आगे आऊँगा। भोगेन्द्रियाँ जो 'विशेष' साधती हैं वह ज्ञान के विशेष की तरह छुईमुई नहीं होता कि पकड़ने जाओ तो हाथ कुछ नहीं आयेगा। वह तो विकल्प-लोक है जिसके हाथ होते ही नहीं कि छू ले, पकड़ ले।

छूने की दुनिया ही अलग है। या 'स्पर्श की' कहना चाहिये। क्योंकि स्पर्श का अर्थ छूने से कहीं व्यापक है। काम-व्यापार स्पर्श के अन्तर्गत तो आता है, छूने मात्र के नहीं। पर शब्द कोई भी लीजिये, अनुभव में यहाँ इन्द्रिय जागती है, अपने को 'प्रकट' करती, 'जनाती' लगती है, केवल संकेत की अनजान सी वाहक नहीं होती। अपने स्पन्द में बड़ी मांसल होती है। हमें होने की तद्गत, अनतिक्रमणीय सी प्रतीति देती है, केवल 'जानने' की नहीं, जहाँ 'होने' का भाव त्रिशंकु सा हो जाता है। अवलम्बित। 'होना'—ज्ञाता का 'होना'—जैसे एक आकस्मिक सी बात लगती है। वह नहीं भी हो सकता था। बल्कि उसका होना, जो कि अनुभव-मय, भोक्तृत्वमय प्रतीत होता है, वह ज्ञान में बाधक ही जान पड़ता है। कर्म में भी भोक्तृत्व बाधक सा जान पड़ता है, पर लगता है जैसे विशेष अंशों में ही बाधक है। भोक्तृत्व न हो तो कर्तृत्व भी बनता नहीं दीखता। मनुष्य का व्यवहार-लोक और उससे भी बढ़कर मनुष्य का भावना-जगत्, भोक्तृत्व से सम्बद्ध है। सम्बन्ध सीधा-सादा नहीं लगता। वह स्पष्ट ही जटिल है पर इतना ज़रूर है कि भावना की, और विशेष कर व्यवहार की, ऐसी कल्पना कठिन लगती है जहाँ भोक्तृत्व हो ही नहीं। भावना और व्यवहार के बिना कर्म की भी कोई पूर्णांग कल्पना सार्थक नहीं जान पड़ती। इस पर आगे चर्चा करूँगा ही। यहाँ इसी प्रसंग की एक और बात छेड़ कर फिर भोक्तृत्व पर आता हूँ। कहा जा सकता है कि ज्ञातृत्व भी ज्ञान और उसका ज्ञेय—विषय—इस द्वैत के बिना नहीं बन सकता। और ज्ञेय यह जगत् ही होता है, मनुष्य का व्यवहार जिसका अंग है। पर ज्ञान को निर्विषय भी सोचा जा सकता है—सोचा ही गया है। यह भी सोचा जा सकता है कि ज्ञान स्वयं अपना ज्ञेय हो, जैसा अभिनव गुप्त के चिन्तन में भी उभरता लगता है। ज्ञान में सब कुछ के अभाव की कल्पना भी हो सकती है। या हम यह प्रश्न उठा सकते हैं कि क्या ऐसी कल्पना हो भी सकती है? दोनों स्थितियों में—कल्पना करते हुए और प्रश्न उठाते हुए—ज्ञान (ज्ञान का स्वरूप) स्वयं अपना ज्ञेय होता है। ज्ञान जब कुछ भी नहीं होने की संभावना के साथ अपने अभाव की भी कल्पना करे तो भी अपना ज्ञेय होता दीखता है। हम जब नितान्त ही 'कुछ भी नहीं'—ज्ञान भी नहीं—की बात सोचते हैं तो भी ज्ञान के भीतर रहकर ही सोचते हैं और आत्मचेतना में सोचते हैं जहाँ ज्ञान में ज्ञाता-ज्ञेय भाव अविच्छेद्य रूप से युगनद्ध होता है। अब यह बात और है कि ज्ञान में परम शून्य की ओर यह इंगित कि कुछ भी नहीं, ज्ञान भी नहीं, इस इंगित में ज्ञान अपना अभाव भी 'देख' सकता है। मैं ऐसा सोचूँ तो तभी प्रश्न उठता है : फिर ज्ञान जो परम शून्य की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ओर उंगली उठा सकता है उसका परमशून्य से सम्बन्ध क्या है? प्रश्न इसलिए भी दुर्निवार सा लगता है क्योंकि ज्ञान परम शून्य 'हो' नहीं सकता—कम से कम वह ज्ञान तो परम शून्य नहीं हो सकता जिसे हम अपनी आत्मचेतना में ज्ञान के रूप में जानते हैं। सम्भव है कि परम शून्य की कोई स्थिति—उसका होना—भी होता हो। अध्यात्म में इसकी साधना की ही जाती है। उस स्थिति को ज्ञान भी कहा जाता है—विशुद्ध प्रकाश—वैसा जिसकी ज्ञान में झलक मिलती है पर जो ज्ञान में ज्ञाता-ज्ञेय के द्वैत से आविल रहता है। माना। पर हमारे लिए फिर भी यह प्रश्न रह जायेगा कि उस अद्वैत ज्ञान का आत्मज्ञान के द्वैत ज्ञान से क्या सम्बन्ध है? और आत्मज्ञान इसके ऊह में व्यस्त-व्याकुल हुए बिना नहीं रह सकता।

अब जो बात मैंने ऊपर छेड़ी अगर बात अचानक ऐसी दिशा लेने लगे तो औचित्य का प्रश्न अनायास उठेगा। हम पूछेंगे, बात जिस तरह चर्चा को कहीं की कहीं ले जाती दिख रही है क्या वह संगत है? इसका औचित्य क्या? अब तक की बातों से इसका मेल क्या? संगति का यह प्रश्न मेरे विचार की बुनावट के भीतर से ही उठेगा। यह विचार के ही अन्तरंग औचित्य का प्रश्न होगा। और मैं यह प्रश्न यहाँ उठा रहा हूँ तो प्रकट है कि विचार के भीतर ही विचार के संगत-असंगत होने का आत्म-आकलन कर रहा हूँ जो उसमें समाया ही रहता है। यह उसका अपना आंतरिक औचित्य-बोध है। विमर्श है। इसे विचार की प्रज्ञा भी कह सकते हैं। एक पुराना शब्द लेते हुए इसे विचार के 'क्षेत्र-ज्ञ' का बोध कहा जा सकता है। पर औचित्य का एक और प्रश्न यहाँ उठ सकता है—जो चर्चा के बाहर से उठाया जा सकता है। प्रश्न अब उस बात पर उतना नहीं होगा जो मैंने अभी छेड़ी, प्रश्न मेरी पूरी चर्चा पर होगा। वह कई रूप ले सकता है। एक व्यापक सा रूप यह ले सकता है कि क्या ऐसी चर्चायें उचित हैं? ये किस काम की? हम यहाँ औचित्य के दूसरे क्षेत्र में हैं। इस क्षेत्र को धर्म और नीति का क्षेत्र कह सकते हैं—कर्म का क्षेत्र। 'किस काम की' यह प्रश्न, 'किस उपयोग की?' यह रूप ले सकता है, और तब मैं कहूँ कि 'इससे मुझे अच्छा पैसा मिलेगा' या 'मेरा प्रमोशन होगा' तो ठीक समाधान हो जायेगा। यह समाधान नीति की दृष्टि से ही होगा। जैसा पहले कह आया हूँ, यह साध्य का औचित्य नहीं होगा, साधन का ही होगा। साध्य का प्रश्न बना रहेगा। वह धर्म का प्रश्न होगा, कर्म के अपने आत्मौचित्य का। हम पूछ सकते हैं, तुम कर्म की व्यावृत्ति की बात कर रहे हो, पर कर्म का ऐसा विमर्श किस काम का? यह किसी कर्म को और उचित कर्मशील कैसे बनायेगा? इस प्रश्न का उत्तर कुछ साधा जा सकता है (साधूंगा नहीं, समाधान जैसा कुछ सधेगा भी नहीं)। पर इससे भी अधिक 'कर्म-परक' एक और प्रश्न हो सकता है—या कर्म ही हो सकता है—जो कर्म को औचित्य का परम क्षेत्र ठहराता है, अन्य क्षेत्रों के औचित्य को कर्म से ही कसता है। प्रश्न होगा—या प्रश्न के रूप में आक्षेप ही होगा—कि 'यह किस उधेड़बुन में लगे हो, 'कर्म' 'कर्म' कर रहे हो, कमर कस कर कुछ करना नहीं चाहिये क्या? दुनिया दलदल में फँसी है, चारों ओर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

हाहाकार है, आदमी आदमी ही नहीं हो पा रहा है और तुम इधर चैन से बैठे 'औचित्य'-'औचित्य' रट रहे हो।' ऐसा या इसी तरह का आक्षेप शक्तिशाली का हथियार भी हो सकता है। कर्म का क्षेत्र एक अर्थ में आधारगत होता है—हमारी सभी प्रवृत्तियों का व्यवस्थापक और संचालक। इसीलिए कर्म-विचारकों ने—हमारे यहाँ के भी कई विचारकों ने—राजकर्म और राजधर्म को मनुष्य की प्रवृत्ति मात्र का धारक कहा है। यह समाज का व्यवस्थापन-कर्म ही है जो कला-विचार जैसे अन्य कर्मों को 'धरती' देता है, उनका पोषण, संरक्षण करता है। या दमन भी कर सकता है, या मर्यादा के नाम पर लक्ष्मण-रेखा में कस दे सकता है। और यह सब कुछ औचित्य के नाम पर होता है। विश्व का अभी पिछले दिनों का इतिहास ही इसका साक्षी है। कुछ मज़हबों को ही लीजिये, ईसाइयत, इस्लाम ... इनमें भी यही प्रवृत्ति है, और औचित्य की दुहाई यहाँ सचमुच ही परम होती है—ईश्वर के नाम पर होती है, जहाँ विचार-विमर्श का अवकाश ही नहीं। है भी तो केवल समर्थन का। कर्म का यह क्षेत्र जहाँ उसका 'राज्य' है, राजधर्म का क्षेत्र है। यह क्षेत्र स्वरूप से ही औचित्य के साध्य-साधन दोनों को समेटता है। यह धर्म और नीति के युगल-भाव का क्षेत्र है। तभी इसकी व्यापकता है। तभी इसके बारे में यह प्रश्न निरन्तर कचोटता रहता है कि नीति क्या सचमुच धर्म को साध रही है? और इस प्रश्न में नीति और धर्म का विरोध भी बड़ी वेदना के साथ मुखर रहता है। साथ-साथ कर्म के लिए—और कर्म-विमर्श के लिए भी—एक गुत्थी, उलटबाँसी जैसी उलझन भी हमारी चेतना के कर्म को सताती रहती है : क्या कोई समाधान है भी? मैं नहीं समझता कि है। पर वह बात आगे करूँगा। ऊपर ज्ञान के सम्बन्ध में हमने देखा कि ज्ञान और ज्ञेय का जहाँ एक ओर अविनाभाव है वहीं दूसरी ओर ज्ञेय ज्ञान के लिए आगन्तुक, आकस्मिक सा है, उसको 'आविल' ही करता जान पड़ता है। यहाँ धर्म और नीति के सम्बन्ध की जैसे कुछ कुछ झलक है, जिसे ध्यान में रखना हमारी चर्चा में काम देगा। यहाँ फिर से भोक्तृत्व के प्रसंग पर आता हूँ।

जो भी हो, ज्ञातृत्व में आत्ममयता की ओर बढ़ती हुई सूक्ष्म गति जितनी स्फुट है भोक्तृत्व में इसके विपरीत स्थूल-भाव की ओर उन्मुखता उतनी ही स्फुट जान पड़ती है। कर्म में भी नीति से धर्म की ओर की गति सूक्ष्मतर होती जाती है, आत्मचेतना में भी अधिक स्व-संस्थ, अपनी ही धरती पर खड़ी जान पड़ती है, पर भोक्तृत्व जैसे उलटी ही दिशा में निमन्त्रण देता है।

पर यह भोक्तृत्व का एक पक्ष ही है। चाहें तो उसका सहजसिद्ध पक्ष कह लीजिये। पर यही उसका सब कुछ नहीं है—सर्वतोसिद्ध पक्ष नहीं है। एक बात सहज ही दिख जाती है जिसे ऊपर के विमर्श में उभारने की भी दिशा मैंने ली है। भोक्तृत्व-व्यापार में ही एक स्वयंभू सा इन्द्रिय-भेद है। कुछ इन्द्रियाँ भोग की अधिक 'धारक' जान पड़ती हैं : रसना, घ्राण, त्वचा। इसीलिए मैंने सुझाया कि इन्हें कर्मेन्द्रिय नहीं कह कर भोगेन्द्रिय कहना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। रसना पर संदेह की उंगली उठ सकती है : रसना से हम बोलते भी हैं, भाषा का उच्चारण करते हैं—अन्य भी ध्वनियाँ निकालते हैं, वर्ण

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

मात्र का उच्चारण करते हैं—इसलिए वह कर्मेन्द्रिय ही तो है! अब यही बात हाथ, पाँव के लिए भी कही जा सकती है।

सच पूछिये तो बात यहाँ इन्द्रिय-भेद की उतनी नहीं है जितनी व्यापार-भेद की है। भोक्तृत्व में रसना, घ्राण, त्वचा के जिस 'भोग' की हम बात कर रहे हैं उसे चाहे तो 'स्पर्श' में समेट सकते हैं, कह सकते हैं कि रसना का अपना स्पर्श होता है, घ्राण का अपना, दूसरे अंगों की त्वचा का अपना-अपना। यही इनके भोग-भेद का भी कारण है। यह भी क्या ठीक होगा? यहाँ क्या हम केवल भोग की ही बात कर सकते हैं? स्पर्श क्या ज्ञान का माध्यम नहीं होता? जिनके आँख न हो, कान न हो, उनके लिए तो बिल्कुल ही होता है। आँख, कान वालों के लिए भी होता ही है। कुछ गुण-विशेषों का ज्ञान—भोग नहीं ज्ञान—स्पर्श से ही होता है। 'कोमल है' यह कहना सत्ता का अध्यवसाय भी है, अनुभव मात्र नहीं। अब हम अगर यह कहते हैं कि कोमल जैसे गुण द्रव्य में निहित नहीं हैं, उसके द्रव्यत्व के व्यावर्तक या स्वरूप गुण नहीं हैं, स्वरूप तो देश में, या देश-काल दोनों में विस्तार है, तो यह बात बुद्धि की, विकल्प-दृष्टि की होती है, इन्द्रिय की नहीं। ऐसी बातों में चक्षु के प्रति पक्षपात भी जान पड़ता है। पर चक्षुहीन को विस्तार-बोध स्पर्श से भी होता लगता है। प्रतीत तो यह होता है कि विस्तार-बोध—देश के अवकाश का बोध—आँख के इधर-उधर देखने में ही नहीं, शरीर की गतिशीलता में ही निहित है, जिसका आधार कर्मेन्द्रियाँ जान पड़ती हैं। कर्मेन्द्रिय को हम शरीर की या शरीर के अंगों की संचालन-शक्ति भी कह सकते हैं। यह जब आत्मचेतना के साथ 'चेष्टा' का रूप लेती है तो ज्ञातृत्व में उस अवकाश को हम देश का नाम देते हैं जो चेष्टा को 'घर' देता है। देश को जब हम 'एक', 'अनन्त', 'अनादि' आदि कहते हैं तो यह बोध इन्द्रिय से बहुत दूर निकल गया होता है। चक्षु में यह बोध अधिक व्यक्त हो तो भी जागता यह बुद्धि की अंखों में ही है। चक्षुहीन को भी हो ही सकता है। यह तो सब ठीक है, जिसे हम एक ही इन्द्रिय कहते हैं उसके माध्यम से भिन्न व्यापार हो सकता है। पर फिर भी रसना, घ्राण, त्वचा इन्हें भोक्तृत्व में ही हम अधिक उजागर पाते हैं।

मैं तो समझता हूँ कि भोक्तृत्व को दृष्टि में रखते हुए हम 'स्पर्श' के आधार पर इन्द्रियों में एक आधारगत विभाजन और कोटि-भेद जैसा भेद कह सकते हैं। आँख और कान में एक बात है : ये अपने विषय का दूर से आकलन करते हैं—इनके लिए विषय-स्पर्श की बात की भी जाये तो लाक्षणिक होगी। बात यहाँ 'अवधान' की हो सकती है जो चेतना का गुण है, स्पर्श की नहीं जो प्राण का गुण जान पड़ता है। रसना, घ्राण, स्पर्शेन्द्रियाँ ये विषय-भुक्त होते हैं, आँख, कान विषय-मुक्त। विषय को जैसे दूर से देखते हैं, उसे साक्षात् छूते नहीं हैं, उसमें रम नहीं जाते हैं।

इसका एक साक्षात् प्रमाण आँख और कान के 'आस्वाद' या भोक्तृत्व में है। इन इन्द्रियों का भी भोक्तृत्व होता ही है : आँख रंगों में, आकृतियों में उनके देश-गत परस्पर-सम्बन्धों को 'देखती', 'जानती' ही नहीं, उनका 'आस्वाद' भी करती है। जैसे रस-

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

घ्राण, स्पर्श की कलायें होती हैं वैसे आँख की भी कलायें होती हैं—चित्र, मूर्त्ति, वास्तु। देखने की बात यह है कि इन कलाओं के और स्पर्श-कलाओं के 'आस्वाद' में एक प्रकट और गहरा भूमि-भेद होता है—पुराने शब्दों में कहें तो आस्वाद-चेतना यहाँ आँखों में आकर रस-चेतना हो जाती है। साधारणी-कृत। सत्वस्थ। यह भूमि-भेद होता है। आत्मचेतना यहाँ इन्द्रियों की ओर नहीं झुकती, अपनी ओर बढ़ती है। ठीक है कि माध्यम इन्द्रिय ही होती है, पर इन्द्रिय-बोध ही अब इन्द्रिय में डूब कर नहीं उससे उतर कर, उबर कर होता है। या बात को दूसरी तरह से कहना शायद ज़्यादा ठीक होगा। डूबने की बात चित्रकार, मूर्त्तिकार और इन कलाओं के रसिक भी करते हैं। कवि, सहृदय दोनों ही करते हैं। तन्मयी-भाव को रसास्वाद का एक अभिन्न लक्षण बताते हैं। और चित्र, मूर्त्ति, वास्तु के तन्मयी भाव से भी इन्द्रिय-बोध अविनाभावेन रस-बोध में तद्गत रहता है। चाहे वही आस्वाद न जगाता हो तो भी उसके बिना आस्वाद नहीं होता। हम रसिक और कलाकार के बोध में अन्तर कर सकते हैं। रसिक का बोध कलाकार की कृति का इन्द्रिय-बोध होता है जबकि कलाकार का इन्द्रिय-बोध सीधा अपरोक्ष होता है। कृति संश्लिष्ट नहीं विषय संश्लिष्ट होता है। यह भेद हम स्पर्श की भेग-साधना में भी कर सकते हैं। वहाँ भी रसोइये और खाने वाले का भेद होता ही है। दोनों की भोग-चेतना में भी भेद कर सकते हैं। रसोइये का 'भोग' कैसा? वह तो भोग जगाने में ही लगा रहता है। पर जो भी हो चित्र जैसी कलाओं में शिल्पी और कलाकार दोनों के लिए ही इन्द्रियाँ जो साधती हैं उसे भोग का 'रुचि'-विलास नहीं कह सकते, जैसा हम रसना, घ्राण, त्वचा के लिए ऊपर कह आये हैं। लगता है कि इन्द्रिय अब रुचि नहीं प्रतीक साधने लगती है जो सीधा आत्मचेतना का विषय होता है। यह 'सार्थक' होता है 'प्रतीक' इसीलिए कह रहा हूँ। इसलिए भी कि 'विकल्प' से 'अन्तर' किया जा सके। प्रतीक विकल्प जैसा सर्वथा निरिन्द्रिय नहीं होता। इन्द्रिय-बोध प्रतीक का प्राण होता है पर संकेत में वहाँ एक सार्थकता होती है जिसे विकल्पधर्मी भी कह सकते हैं। बोध अब विशेष के स्तर से उठ कर साधारण के स्तर पर आ जाता है। विशुद्ध इन्द्रिय-भोग में भोग्य को दो अर्थों में विशेष कहा जा सकता है : एक तो रुचि में उजागर बोध वहाँ जो विषय-संकेत जगाता है उसका 'तत्'—'यह है' यह प्रकाश—वहीं तत् में ही बँधा रहता है। तभी उसके लिए 'निर्विकल्प' शब्द युक्त भी जान पड़ता है। भोग जितना गहराता है उसका विशेष, उसका निर्विकल्प भी उतना ही गहराता है। फिर एक बात और यह है कि यहाँ भोग 'मेरा' होता है, मेरा ही जान पड़ता है। 'मुझे हो रहा है', मैं का यह संकीर्ण सीमित बोध वहाँ चेतना में घनीभूत रहता है। यह ठीक है कि यह कहना ही आत्मचेतना को ला खड़ा करता है, और आत्मचेतना का 'मैं' बिलकुल निःसामान्य नहीं हो सकता। पर आत्मचेतना के बिना तो बात ही नहीं हो सकती। और कह ही आया हूँ कि हमारा भोग-व्यापार भी अपनी तरह से आत्मचेतना पर निर्भर है। बात बोध के उस भूमि-भेद की है जिससे आत्मचेतना इनकार नहीं कर सकती।

CC0..In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

जिसे मैं इन्द्रिय का प्रतीक-बोध कह रहा हूँ वहाँ चेतना का स्वरूप-स्वभाव ही जैसे रुचि-बोध से ऊपर किसी दूसरे धरातल पर होता है। अनुभव का विषय अब अपनी तरह के विमर्श का भी विषय होता है, चाहे अनुभव कलाकार का इन्द्रिय-विषय से सीधे सम्पर्क का हो या रसिक का कलाकृतिगत इन्द्रिय-बोध का। उसके विशेष में ही अब सामान्य की प्रेरणा का प्रकट स्पन्द होता है। तभी उसे साधारणीकृत कहा गया है। साथ ही सत्वस्थ या सत्व-प्रधान भी कहा गया है—'प्रधान' ही कहना अधिक उचित है क्योंकि सत्व-रजस्-तमस् की धारणा में इन तीनों की एक त्रिपुटी है जो कभी टूटती नहीं, इनमें तारतम्य या गुण-प्रधान भाव ही होता है।

'साधारणीकृत' और 'सत्वस्थ' इन दोनों धारणाओं में एक साम्य है, पर वैषम्य भी है। साम्य इस बात में है कि दोनों धारणाओं में इंगित ऐसे गुण-धर्मों की ओर है जिन्हें हम बुद्धि से जोड़ते हैं, इन्द्रिय मात्र से नहीं। आस्वाद साधारणीकृत होता है तो उससे सामान्य-बोध की ही तरह 'मैं' की डोर टूट जाती है। बोध अब होता है—'मेरा' नहीं होता। आलंकारिकों ने यहाँ उन भावों का उदाहरण लिया है जो नाटक देखने की परिस्थिति में होते हैं। भय, रति, उत्साह आदि वहाँ बोध में बड़े जाग्रत, उजागर रहते हैं, पर वे 'मेरे' नहीं होते—तभी उनका 'आस्वाद' सम्भव होता है, अन्यथा मैं उनमें व्यग्र ही रहूँगा, और वे मुझे व्यग्र रखेंगे। नाटक में होने वाला भय अगर 'मेरा' हो तो देखने वाला ही उड़न-छू होगा। भय अभिनेता का भी 'अपना' नहीं होता, नहीं तो वह भय का अभिनय ही कैसे करेगा? यों वह सामान्य या 'साधारणीकृत' होता है। 'मेरा' 'अपना' वह उसी अर्थ में होता है जिस अर्थ में विचार में उभरते सामान्य या साधारण प्रत्यय होते हैं—'मैं' जैसा कोई विचारक—'प्रमाता'—न हो तो सामान्य का कोई 'अधिष्ठान' न होगा। पर 'मेरा विचार' और 'मेरा भोग' में यहाँ 'मेरा' के अर्थ ही भिन्न हैं। 'मेरा रस-बोध' 'मेरा विचार' से अधिक साम्य रखता है। बात बुद्धि की या बुद्धि-तुल्य प्रज्ञा की हो जाती है, इन्द्रिय-में-आकण्ठ डूबने को आतुर रुचि-वृत्ति नहीं रहती। 'सत्त्वस्थ' कहने में यह बात और भी उभरती है। 'सत्त्व' बुद्धि का अपना गुण है, जहाँ 'पुरुष' या 'आत्म' का प्रकाश अधिक उजागर रहता है, जहाँ चेतना के अपने स्वतन्त्र स्वरूप से उसका सम्बन्ध अधिक साक्षात् होता है। आत्मचेतना में यहाँ आत्म और बुद्धि का युगल तैरता है। आस्वाद की बात तभी अटपटी या विषम लगती है। लक्षणा से ही सही बन सकती है। आस्वाद सूक्ष्म हो जाता है, तभी उसे 'रस' कहा जाता है। प्रतीपतया इन्द्रियमय भोग का आस्वाद सचमुच आस्वाद होता है, आस्वाद की स्थूल मांसलता में आकण्ठ मग्न। इस 'आस्वाद' में इन्द्रिय-विषय रुचि का उद्दीपन ही साधता है, प्रतीक जैसा अर्थमय कुछ नहीं बन पाता जिसके लिए बुद्धि की लौ चाहिये। तभी उसके लिए 'तामस' जैसे विशेषणों का प्रयोग भी होता ही रहा है। पर साँख्य के प्रत्ययों में देखें तो कह सकते हैं कि जिसे हम तामस कह रहे हैं वह तमस्-प्रधान होता है, सत्त्व वहाँ भी जागता रहता है, वहाँ भी हम आत्मचेतन होते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

यहाँ साँख्य की पदावली का प्रयोग मैंने इसलिए किया है क्योंकि पुराने रसचिन्तन में इसे भी बरता गया है। बात ठीक वैसे नहीं कही गई है जैसे मैंने कही है पर साँख्य की पदावली में भोग, आस्वाद, या जिसे मैं रुचि कह रहा हूँ उसका रस से तारतम्य स्पष्ट है, जो मैं यहाँ साधना चाह रहा हूँ। रस आत्म-चेतना के ऊर्ध्वतर, उत्तुंगतर शिखर पर स्थित है। इसी को दिखाने के लिए आलंकारिकों ने साँख्य का आश्रय लिया। आज के हमारे भाषा-प्रयोग में भी यह पदावली कौंधती ही रहती है। हाँ, पुराने आलंकारिकों ने रस के विषय को 'प्रतीक' का नाम नहीं दिया है, जो कि मैं दे रहा हूँ। पर मैं चर्चा साँख्य की या आलंकारिकों की नहीं कर रहा हूँ, मेरा उद्देश्य आत्म-चेतना में प्रत्यक्ष उभरते स्तर-भेद को उजागर करना है जिससे औचित्य-बोध के भिन्न क्षेत्रों पर प्रकाश पड़े और हमारे व्यावर्तन-कर्म को सहारा मिले, कुछ पैठ बढ़े। कहना न होगा कि रुचि और रस का स्तर-भेद औचित्य-बोध के स्तर-भेद के साथ भी जुड़ा है। रुचि के लिए भी हम भिन्न आस्वादों में—और आस्वाद के इन्द्रिय-विषयों में—एक संगति साधते हैं। उनका संघात, 'अवयवी' खड़ा करते हैं। रसोइया एक 'भोज' परोसता है, और 'प्रतिभा का शिल्पी' हो तो चेष्टा यह भी रखता है कि पहले निवाले से आख़िरी निवाले तक भोजन की रुचि में संगति बनी रहे। पूरा भोज 'एक' भोज हो। विशुद्ध वैचित्र्य भी साधा जाये तो भी वहाँ बेमेल का कोई मेल साधा ही जाता है। तभी बात बनी या नहीं यह गुण-दोष विचार भी होता है।

पर रुचि का औचित्य-बोध 'अर्थ' जैसा कुछ नहीं साधता, जिसके लिए मैंने 'प्रतीक' शब्द को यहाँ प्रतीक के रूप में लिया है। रस का औचित्य-बोध केवल विशुद्ध आस्वाद तक सीमित नहीं रहता—चाहे आलंकारिकों की बातों से यही अभिप्राय अधिक ध्वनित होता हो। हम अगर इतना भर ही कहें कि रुचि (या इन्द्रियभोग) और रस का भेद आस्वाद के ही स्थूल और सूक्ष्म का भेद है, तो बात बहुत ही अधूरी रह जायेगी। बात केवल मोटे और महीन की या गफ और झीने की ही नहीं है—बात औचित्य-बोध के तत्त्वान्तर की भी है। बोध के 'सत्वस्थ' हो जाने की धारणा में यह इंगित भी उभरता है, चाहे उसे चर्चा में बढ़ाया नहीं भी गया हो। तत्त्वान्तर के इसी इंगित को पकड़ने के लिए मैंने 'प्रतीक' शब्द का प्रयोग किया है। जैसा ऊपर कह आया हूँ, रस-विषय के लिए भी हम 'रुचि-विषय' जैसी शब्दावलि का प्रयोग करते हैं—कड़वा है, मीठा है, रूखा है, चिकना है, महक है, बू है ...। पर यह रस-विषय का एक ही पक्ष होता है। निचला ही पक्ष होता है। दूसरी शब्दावलि देखिये, जो अधिक अनुरूप—अधिक 'संगत' या 'उचित' है : 'सुन्दर है' : 'भव्य है', 'सौम्य है', 'उदात्त है', 'कान्त है', 'दीप्त है', 'ललित है', 'सुकुमार है', 'उद्धत है', 'शान्त है', शिव है' ...। ये विशेषण या गुण-धर्म आस्वाद की स्पर्श-प्राण चेतना के नहीं हो सकते। ये इन्द्रिय-गर्भ हैं ही नहीं, बुद्धि-गर्भ हैं—सत्व-गर्भ। इनमें तात्पर्य यह भी जागता है कि बोध का विषय भी अब इन्द्रिय-मात्र-वृत्ति नहीं रहा है। उसका तत्-स्वरूप, उसका तत्त्व ही बदल गया है। इसीलिए मैंने उसके लिए 'प्रतीक' शब्द का प्रयोग किया। 'प्रतीक'

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

शब्द इसलिए भी सार्थक है कि बात 'विकल्प' की नहीं हो रही है, जो भाषागत होता है। चित्र, मूर्त्ति, वास्तु इनके प्रतीक वर्ण और आकृति के विशुद्ध देश-विन्यास भी हो सकते हैं।

मैंने संगीत और साहित्य की बात यहाँ नहीं उठाई है। इनकी बात उठाई जाये तो बात की बानक में एक दूसरी रंगत, एक दूसरी बनावट आ भी सकती है। आगे कोई सन्दर्भ बना तो उठाऊँगा। पर जो तात्पर्य मैं यहाँ खोलना चाहता हूँ वह इनकी चर्चा के बिना भी, मैं समझता हूँ, कुछ खुल ही जाता है।

एक बात का उल्लेख करता हुआ यहाँ चर्चा को फिर 'क्रमशः' पर छोड़ना चाहता हूँ।

'प्रतीक' अगर तत्त्वान्तर का द्योतक है तो कहना न होगा कि प्रतीक-साधना के औचित्य-बोध में भी तत्त्वान्तर का प्रवेश होता है। प्रतीक में जो संगति, संघात और इनसे निष्पन्न अवयवी साध्य होता है उसमें औचित्य-विमर्श का स्वरूप ही और हो जाता है—कलाकार और सहृदय दोनों के लिए। इस कथन पर विचार विस्तृति चाहता है जिसमें नहीं जाऊँगा, पर एक मोटी सी बात आगे रखता हुआ चर्चा का अन्त करता हूँ। प्रतीक का औचित्य-विमर्श आत्मचेतना में अन्तरंग होता है और इसलिए स्वतन्त्र। वह प्रतीक-साधना और प्रतीक-बोध के माध्यम से आत्म-चेतना का ही आत्म-विमर्श होता है और इस रूप में विचार-विमर्श जैसी प्रज्ञा में स्थित होता है। तभी प्रतीक-विमर्श के साध्य को हम सुन्दर और रसमय ही नहीं, सत्य और शिव जैसे विशेषण भी देते हैं—जो निरर्थक तो नहीं ही जान पड़ते।

ए 36-37, विश्वामित्र मार्ग,
श्यामनगर, जयपुर 302006

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भारतीय दार्शनिक चिन्तन का स्वरूप और उसकी परम्पराओं के मूल स्वर

(क्रमशः)

दयाकृष्ण

दार्शनिक परम्पराएँ और उनका ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

इस प्रकार विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों के मूल सूत्र, जिनसे इन दार्शनिक सम्प्रदायों का प्रारम्भ माना जा सकता है, करीब-करीब ईस्वी शताब्दी के शुरू में रचे जा चुके थे। इसके बारे में यह ठीक-ठीक कहना कि इनकी रचना कब हुई थी मुश्किल है लेकिन फिर भी इतना तो साफ ही है कि **मीमांसा सूत्र** सब से पहले रचे गए थे और उसके **ब्रह्म सूत्र** उसके बाद। कुछ लोग **वैशेषिक सूत्रों** की रचना **मीमांसा सूत्र** से भी पहले मानते हैं। लेकिन अधिकतर लोग इसे स्वीकार नहीं करते। इसके बाद **वैशेषिक सूत्र** की रचना मानी जाती है और उसके बाद **न्याय सूत्र** की। **योग सूत्र** की रचना सबसे बाद में हुई है ऐसा जान पड़ता है, और जैसा कि हम साँख्य के बारे में बहुत पहले कह चुके हैं, उसका आदि ग्रन्थ, जो **षष्ठि तन्त्र** के नाम से जाना जाता है, उसको सूत्र की संज्ञा नहीं दी गई है।

जो लोग केवल दर्शन के ग्रन्थ ही पढ़ते हैं या सिर्फ़ उनके बारे में ही पढ़ते हैं उन्हें कुछ ऐसा लगता होगा कि जैसे इन ग्रन्थों के रचयिता कहीं किसी जंगल में बैठकर संसार से अलग-थलग अपने आशय के साथ इन सब बातों की चर्चा करते थे। पर वास्तव में ऐसा नहीं था, क्योंकि यदि हम उस समय के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को देखें तो हमें आश्चर्य होगा कि उस समय की संस्कृति एवं सभ्यता कितनी समृद्ध थी। यह ठीक है कि मौर्य साम्राज्य खत्म हो चुका था। अशोक, जिसके प्रसिद्ध शिलालेख अब भी भारत के कोने-कोने में पाए जाते हैं, उसका राज्य भी समाप्त हो गया था। पर यह बात ध्यान में रखने की है कि अशोक के काल में बौद्ध धर्म का भारत में ही नहीं भारत के बाहर भी प्रचार हुआ था। उसके समय में स्वयं उसके पुत्र और पुत्री धर्म के प्रचार के लिए सिंघल द्वीप गए थे जो आज श्रीलंका के नाम से जाना जाता है। बौद्ध धर्म का यह अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष कभी भुला नहीं देना चाहिए और इसके साथ ही यह भी याद रखना चाहिए कि अशोक ने बौद्ध धर्म के साथ-साथ अन्य धर्मों का भी संरक्षण किया था। यह वास्तव में भारत की पुरानी परम्परा के अनुकूल ही था जहाँ राजा का धर्म ही यह माना गया था कि वह अपने राज्य में सब सम्प्रदायों को अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुसार अध्यात्म साधना करने की स्वतंत्रता दे, उसमें विघ्न न डाले, वह स्वयं चाहे किसी मत को भी मानने वाला हो। पर राजा होने के नाते उसका यह धर्म भी माना गया था कि वह सब को संरक्षण भी दे।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

मौर्यकाल में भारत का राजनीतिक केन्द्र पूर्व में बिहार के आस-पास बन चुका था और यह सब को पता है कि भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध दोनों इसी प्रदेश में हुए थे और दोनों ने अपने उपदेश इसी प्रदेश के प्रसिद्ध नगरों में किये थे। बौद्ध और जैन मत श्रमण परम्परा में होते हुए भी नगर-केन्द्रित सम्प्रदाय थे और इनके मानने वाले भी अधिकतर धनी और व्यापारी लोग थे जिनकी अपनी 'श्रेणियाँ' थीं और जो उस समय की राज्य-व्यवस्था में काफी प्रभाव रखती थीं। वे कुछ-कुछ आजकल के चैम्बर्स ऑफ़ कॉमर्स की तरह थीं। किन्तु इनका सम्बन्ध वस्तुओं के उत्पादन से सीधा जुड़ा हुआ होता था जिस कारण उन्हें अंग्रेज़ी में जिन्हें 'गिल्ड' कहते हैं, उनके समान कहा जा सकता है।

इस समय भारत का राजनीतिक केन्द्र फिर उत्तर पश्चिम में स्थापित हो चुका था। कुषाण साम्राज्य, जिसका उत्तर भारत में प्रभुत्व था, उसका साम्राज्य मध्य एशिया में और पश्चिम एशिया में दूर-दूर तक फैला हुआ था और एक तरह से वह तीन बड़े साम्राज्यों के बीच स्थित था। एक तरफ चीन का साम्राज्य था तो दूसरी तरफ ईरान का, और तीसरी तरफ रोम का प्रसिद्ध साम्राज्य था। इन सब के बीच में स्थित होने के कारण इसके व्यापारिक सम्बन्ध इन तीनों साम्राज्यों से थे और भारत के पश्चिमी किनारे पर होने वाले बन्दरगाहों में रोम और मध्य एशिया के देशों से बराबर व्यापार होता था। दूसरी ओर मध्य एशिया से आने वाले रास्तों पर चीन से बराबर सामान आया-जाया करता था। रोमन साम्राज्य के अनेक सिक्के दक्षिण भारत में आज भी मिलते हैं। हालांकि उत्तर भारत में या मध्य एशिया में वे बहुत ही कम मिलते हैं किन्तु इसका कारण यही बताया जाता है कि रोम के सोने के सिक्के कुषाण साम्राज्य में गलाकर उसके अपने सिक्कों में परिवर्तित कर दिये जाते थे। दक्षिण भारत में चाँदी के सिक्के ही चलते थे इसलिए व्यापार के लिए जो रोमन साम्राज्य से सोने के सिक्के आते थे वे उन्हें वैसे ही काम में लेते थे।

इन सब बातों का महत्त्व यह है कि इन्हीं मार्गों पर भारत से पश्चिम एशिया और मध्य एशिया और चीन में बौद्ध और हिन्दू मतावलम्बियों ने अपने मतों का प्रचार किया। इन व्यापार-मार्गों से ही बौद्ध भिक्षु अन्य देशों में जाते थे और भगवान् बुद्ध के मत का प्रचार करते थे। इन्हीं व्यापार-मार्गों पर अनेक बौद्ध भिक्षुओं के संघ-स्थान थे जिनके अवशेष आज भी मिलते हैं। यही नहीं, मौर्य काल में तक्षशिला से पाटलिपुत्र का जो राजमार्ग बनाया गया था वह कुषाण काल में भी उपयोग में आता था और उसी के द्वारा मध्य एशिया और पश्चिम एशिया से व्यापार होता था। आज भी मथुरा के संग्रहालय में इस काल की बहुत मूर्त्तियाँ हैं, कनिष्क की मूर्त्ति उस काल की याद दिलाती है। कुषाण साम्राज्य भारत में उत्पन्न हुए अनेक धर्मों को भारत के बाहर फैलाने में सहायक बना। इस संदर्भ में यह भी ध्यान में रखने की बात है कि हालांकि कुषाण साम्राज्य में भी प्रधानतः बौद्ध धर्म को स्वीकारा और संरक्षण दिया गया था पर उन्होंने मौर्य राजाओं की तरह अन्य धर्मों को भी उसी प्रकार सहायता और संरक्षण दिया जैसा पहले के राजा देते थे। कुषाणों के इसी प्रदेश में शक साम्राज्य था जिनका संवत आज भी भारत में चलता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

है और कुछ-कुछ ऐसा भी पता चलता है कि कुषाण काल में गुजरात प्रदेश में शकों के कुछ उत्तराधिकारी राज्य करते थे जिनमें रुद्रदमन का नाम प्रसिद्ध है और जिसने शायद कुषाण साम्राज्य का आधिपत्य स्वीकार कर लिया था। इस सब परिवेश की चर्चा करने का यहाँ प्रयोजन केवल इतना ही है कि भारत की विभिन्न मूल दार्शनिक परिस्थितियों का जन्म एक ऐसे वातावरण में हुआ था जब देश की संस्कृति और सभ्यता समृद्ध थी और उसका चारों ओर के क्षेत्रों से गहरा सम्बन्ध था। इस सम्बन्ध का केवल राजनीतिक और वाणिज्यिक स्वरूप ही नहीं था बल्कि इसमें विचारों का आदान-प्रदान और कला-कौशल आदि में एक-दूसरे से सहज रूप में लेन-देन भी अपनी चरम सीमा पर थे। इसके कुछ ही दिन बाद अनेक चीनी यात्री भारत में बौद्ध मतों को समझने के लिए आये और यहाँ से बहुत सारे ग्रन्थ अपन देश में ले गए जिनका उन्होंने वहाँ जाकर अनुवाद किया। ऐसा ही दक्षिण-पूर्वी एशिया में भी हुआ। बर्मा, इण्डोनेशिया, मलाया, थाईलैण्ड, कम्बोडिया आज भी इसके जीते-जागते उदाहरण हैं। यह ठीक है कि अब तक भारतीय दर्शन के इतिहासकारों की दृष्टि वैदिक परम्परा से जुड़े हुए दार्शनिक संस्थानों में ही अटकी रही है, पर ईसा से प्रारम्भ होने वाले 700 साल का केन्द्र तो बौद्ध दर्शन ही था जिसका विस्तार भारत से बाहर भी हुआ। इसलिए अगर हमें उस युग के दर्शन की कहानी लिखनी है तो हमारा केन्द्र-बिन्दु बौद्ध दर्शन होना चाहिए न कि वैदिक परम्परा से जुड़ा दर्शन हालांकि इसमें कोई शक नहीं है कि इन दर्शनों का बोलबाला भारत में 1200 ईसवी में नालन्दा के नष्ट होने के साथ बौद्ध दर्शन की समाप्ति के बाद फिर से हुआ।

जैन दर्शन का प्रारम्भ भी इसी काल में माना जाता है और उसके प्रथम प्रसिद्ध दार्शनिक कुन्दकुन्द शायद ईसा के बाद दूसरी-तीसरी शताब्दी में हुए थे। जैन दार्शनिकों का प्रभुत्व इतना तो नहीं था जितना कि बौद्धों का था, पर पहले हज़ार साल में अगर जैन दार्शनिकों की संख्या गिनी जाये तो वह भारत के अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों से काफी अधिक थी। बौद्ध दार्शनिकों की संख्या तो सब से कम थी, करीब-करीब 411। अगर हम पौटर द्वारा संगृहीत दार्शनिक पुस्तकों की सूची देखें तो उससे पता चलता है कि जैन दार्शनिकों की संख्या इन हज़ार वर्षों में 38 के बराबर है, जो बौद्धों से तो बहुत कम है पर फिर भी मीमांसा, वेदान्त, न्याय, साँख्य, योग आदि के दार्शनिक्रों की संख्या से अधिक प्रतीत होती है। जैन दार्शनिकों का असली बोलबाला ईसा के एक हज़ार साल बाद प्रारम्भ होता है। इसके वास्तव में क्या कारण थे यह कहना कठिन है पर प्रारम्भिक एक हज़ार साल में जैन दर्शन का विकास किस प्रकार हुआ इसकी चर्चा हम आगे करेंगे। इस हज़ार साल में भारत बौद्ध दार्शनिक चिन्तन का केन्द्र-बिन्दु था।

नागार्जुन, जो महायान और शून्यवाद के प्रधान प्रवर्तकों में से माने जाते हैं, उनके बाद असंग, वसुबन्धु, दिङ्नाग और धर्मकीर्ति जैसे प्रसिद्ध दार्शनिक हुए। असंग से पहले मैत्रेयनाथ का नाम लिया जाता है और यह कहा जाता है कि उन्होंने बौद्ध परम्परा में विज्ञानवाद का प्रारम्भ किया। दर्शन के संदर्भ में यह जानना ज़रूरी है कि दार्शनिक समस्या

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कैसे उत्पन्न होती है और उसका उत्तर विभिन्न दार्शनिक कैसे देते हैं। सहज रूप में यह सब को पता है कि मनुष्य-जगत् का ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा होता है और मनुष्य के पास केवल पाँच ही ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। पर साधारणतः ये इन्द्रियाँ जानवरों के पास भी हैं। तब यह सवाल पैदा होता है कि जानवरों के ज्ञान में और मनुष्य के ज्ञान में भेद किस प्रकार किया जाय? मनुष्य क्योंकि आत्मचेतन प्राणी है इसलिए वह अपने अनुभव के सब आयामों पर सोचता है और उनको समझने की चेष्टा करता है। इस समझने की चेष्टा में ही दर्शन का भी जन्म होता है। ऐसा नहीं है कि पशु अपनी इन्द्रियों द्वारा भ्रमित नहीं होता, पर उस भ्रम के होने पर उसके सामने कोई विशेष समस्या उत्पन्न नहीं होती। वह भ्रम हट जाता है तो वह उस घटना को भूल जाता है। कोई बिल्ली जब शीशे में अपना प्रतिबिम्ब देखती है तो उसको आश्चर्य अवश्य होता होगा। कभी-कभी तो आप पक्षियों को भी इसी प्रकार के भ्रम की अवस्था में देख सकते हैं। पर इससे उनके सामने कोई ऐसी मूलभूत समस्या उत्पन्न नहीं होती जिसका वे समाधान ढूँढें जबकि इसके विपरीत दार्शनिक बुद्धि के सामने यह सवाल पैदा होता है कि यदि प्रत्यक्ष के ज्ञान में सहज भ्रम उत्पन्न हो सकता है तो क्या जब हमें लगता है कि यह ज्ञान सत्य है तो वास्तव में वह भ्रम नहीं हो सकता? और आखिर इस भ्रम का निवारण कैसे होता है? अगर प्रत्यक्ष से प्राप्त ज्ञान भी ग़लत हो सकता है तो उसका निराकरण स्वयं प्रत्यक्ष तो नहीं कर सकता, उसके लिए तो किसी अन्य शक्ति का सहारा लेना पड़ेगा और वह बुद्धि ही हो सकती है जो मनुष्य के सारे अनुभव पर एक स्वतंत्र चिन्तन की प्रक्रिया को प्रारम्भ करती है। और फिर प्रत्यक्ष-परक ज्ञान भी तो हमेशा नहीं होता! जब मनुष्य सोता है तो उसको बाह्य जगत् का कोई ज्ञान नहीं होता। हालांकि उसको स्वप्न में विषय दिखाई देते रहते हैं पर स्वप्न भी समाप्त हो जाते हैं। हम गहरी नींद की बात भी करते हैं जिसमें स्वप्न होते ही नहीं। और जब स्वप्न भी नहीं होते तो किसी विषयवस्तु का भी ज्ञान नहीं होता। और फिर, स्वप्नों में ज्ञान तो होता है पर सच-झूठ का सवाल नहीं होता।

पर सच-झूठ का फैसला करने पर जागृत अवस्था के अनुभव के संदर्भ में सच-झूठ का फैसला करने के लिए अगर हम बुद्धि की शरण में जाते हैं तो क्या यह तय हो सकता है कि बुद्धि सच-झूठ का फैसला निश्चयात्मक रूप में कर सकती है? क्या बुद्धि के अपने वैसे ही भ्रम नहीं हो सकते जैसे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के होते हैं?

पर अगर हम यह मान भी लें कि बुद्धि के भी अपने स्वरूपजन्य सहज भ्रम होते हैं तो उसका पता बुद्धि को तो कभी लग ही नहीं पाएगा क्योंकि बुद्धि की प्रक्रिया के होने का मतलब ही यह होगा कि वह भ्रम भी उत्पन्न हो रहा है, जिस प्रकार कि इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष जगत् का ज्ञान होने का अर्थ ही यह होता है कि इन्द्रियों के स्वरूप से उत्पन्न जो भ्रम पैदा होते हैं वे वहाँ अनिवार्य रूप से मौजूद हैं, जैसे कि सूर्य का चलता हुआ दिखना, या क्षितिज पर ज़मीन और आसमान का मिलना, या किसी सीधी छड़ी का पानी में टेढ़ा दिखना। ये भ्रमपूर्ण होते हुए भी सभी को दिखाई देते हैं और अगर बुद्धि के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

द्वारा यह पता भी चलता है कि असल में ऐसा नहीं है जैसा दिखाई देता है तब भी ये वैसे ही दिखाई देते रहते हैं जैसे कि उनके भ्रमपूर्ण होने का पता होने से पहले। कहने का आशय यह है कि ऐसा दिखाई देना मनुष्य की इन्द्रियों का अपना ही स्वभाव है। यदि इन्द्रियाँ होंगी तो ऐसा ही दिखेगा और इस देखने में ज्ञानी-अज्ञानी का कोई भेद नहीं होता। हाँ ज्ञानी होने का मतलब यह ज़रूर है कि उसको दिखता तो वैसा ही है जैसा अज्ञानी को पर वह अपने से यह कहता है कि जैसा दिखता है वह असल में वैसा नहीं है और अगर कोई यह पूछे कि वैसा क्यों नहीं है तो उसका वह कोई संतोषजनक उत्तर दे सकता है या पता नहीं होने पर उत्तर खोजता है। पर अगर बुद्धि के भी अपने ऐसे भ्रम हैं तो उनका पता बुद्धि को स्वयं को कभी भी नहीं हो सकता, क्योंकि जिसके पास मानव जैसी बुद्धि होगी उसे विचार-जगत् वैसा ही परिलक्षित होगा। यह समझने के लिए कि बुद्धि को वास्तव में भ्रम है हमें बुद्धि के परे किसी अन्य शक्ति की कल्पना करनी पड़ेगी जिसकी सहायता के द्वारा ही उसका भ्रमपूर्ण होना जाना जा सकता है।

पश्चिमी परम्परा के प्रसिद्ध दार्शनिक कान्ट ने इस समस्या की ओर इशारा किया था पर उन्होंने इसका कोई हल नहीं दिया। उन्होंने यह बताने की चेष्टा की थी कि बुद्धि का अपना स्वरूप ही ऐसा है कि वह इन मूलभूत भ्रमों को जन्म देती है। पर उन्होंने यह भी बताया था कि इनकी 'सहज भ्रामकता' कैसे जानी जा सकती है! प्रत्यक्ष ज्ञान की समीक्षा के सन्दर्भ में उन्होंने यह दिखाने की कोशिश की थी कि देश और काल, जो प्रत्यक्ष जगत् के अनिवार्य अंग हैं और ऐसे दिखाई पड़ते हैं जैसे ये इन्द्रिय-व्यापार की प्रक्रिया से स्वतंत्र विषय रूप में जगत् में स्थित हैं, वास्तव में ऐसे नहीं हैं, क्योंकि उनको वैसा मानने पर ऐसी कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं जिनका कोई निराकरण हो ही नहीं सकता। वे दोनों (देश और काल) असीम और अनन्त दिखाई देते हैं, किन्तु जो असीम और अनन्त है वह यदि विषय रूप में लिया जाए तो हमेशा उन वैचारिक कठिनाइयों को जन्म देगा जिनका समाधान सिद्धान्ततः असम्भव है। इसी को आधार बनाकर उन्होंने यह कहने की कोशिश की कि जो किसी प्रक्रिया के मूलभूत स्वरूप से ही उत्पन्न होता है क्योंकि वह उसमें स्वयं में ही अन्तर्निहित है इसलिए उसमें सहज रूप में विद्यमान है और इसीलिए विषय रूप में उपस्थित होता हुआ प्रतीत होता है। पर उसको ऐसा न जानने से ही उस सारे क्षेत्र की मूलभूत विसंगतियाँ उत्पन्न होती हैं जिनका निराकरण यह जानकर ही किया जा सकता है कि वे वास्तव में उस क्षेत्र के विषय नहीं हैं पर उस क्षेत्र के 'क्षेत्र' होने की पूर्वमान्यताएँ हैं। कहने का अर्थ यह है कि वे ही क्षेत्र को 'क्षेत्र' बनाते हैं या उसको आकार देते हैं या उसकी परिधि या रूप रचते हैं। पर साधारणतः चेतना को यह प्रतीत नहीं होता है कि वह उनको उसी विषय के रूप में लेती है जैसे अन्य विषयवस्तुओं को। बुद्धि के सन्दर्भ में भी उन्होंने बुद्धि के बौद्धिक प्रक्रिया के इस स्वरूप को समझने की चेष्टा की है जो यह बताए कि बौद्धिक प्रक्रिया की पूर्वमान्यता क्या है, या दूसरे शब्दों में कहें तो उस प्रक्रिया

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

का अपना स्वरूप क्या है। बौद्धिक चेतना से जो जगत् साधारणतः उत्पन्न होता है उसमें वे विषय-रूप दिखाई देते हैं, बुद्धि के अपने स्वरूप में नहीं।

कान्ट का यह विचार अत्यन्त गम्भीर और विश्व-दर्शन के इतिहास में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है क्योंकि उन्होंने दार्शनिक विचार को एक नई दिशा दी और उसका ध्यान एक नई समस्या की ओर मोड़ा। कान्ट ने यह सवाल उठाया कि इन्द्रिय-जगत् की संरचना का आकारिक स्वरूप जो प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रिया में निहित है वह तो बुद्धि ही उजागर कर सकती है पर बौद्धिक प्रक्रिया के स्वरूप में जो आकारिक पूर्वमान्यताएँ हैं और जिनके आधार पर ही बौद्धिक जगत् की रचना होती है उनको कौन उजागर करेगा? शायद उनका ख्याल था कि बुद्धि का अपना स्वरूप ही ऐसा है कि वह विषय पर ही चिन्तन नहीं करती बल्कि अपने आप पर भी चिन्तन कर सकती है, क्योंकि वह मनुष्य की आत्मचेतना की अनिवार्य अंग है। इसलिए जहाँ एक ओर वह प्रत्यक्ष जगत् पर चिन्तन करती है वहीं वह दूसरी ओर अपने पर भी सोचती है। पर अगर ऐसा है तो सवाल यह उठेगा कि आत्मचेतना का अपना स्वरूप क्या है और इस आत्मचेतना की प्रक्रिया के द्वारा वह जो जगत् रचता है उसके संस्थागत मौलिक कर्म क्या होने चाहिएँ? कान्ट ने यह सवाल नहीं उठाया और उसके बाद के होने वाले दार्शनिकों ने भी इस ओर अधिक ध्यान नहीं दिया। लेकिन इस पर एक अन्य दृष्टि से विचार करें तो ऐसा लगेगा कि मनुष्य का हर आयाम एक जगत् की सृष्टि करता है और उस सृष्टि करने की प्रक्रिया की कुछ मूलभूत पूर्वमान्यताएँ होती हैं जो वास्तव में उस सृष्ट जगत् को रूप प्रदान करती हैं। ऐसा देखने पर वह जगत् जो विषय रूप में प्रदत्त होता हुआ दिखाई देता है वह मनुष्य ही को ऐसा मालूम पड़ता है कि वह उसका सृष्ट जगत् है। बौद्ध विज्ञानवाद की भी यही दृष्टि है हालांकि उनके विचार ने वह दिशा नहीं ली जो कान्ट के विचार में निहित है। एक तरह से स्वप्न के संसार में मनुष्य की चेतना कुछ सृष्टि करती है ऐसा लगता है, दूसरी तरह से कला-जगत् में मनुष्य सृष्टि करता है ऐसा भी सब को मालूम है। तीसरी ओर सामूहिक रूप से मनुष्य समाज और संस्कृति की रचना करता है जिसमें कायदे और कानून एक जगत् की रचना करते हैं जिसमें मनुष्य रचयिता भी है और अपनी ही संरचना का कैदी भी है। आख़िर कानून तो आदमी ही बनाता है और उसी कानून से कभी-कभी कानून बनाने वाला स्वयं भी जेल भेज दिया जाता है। मनुष्य का रचना-पक्ष विज्ञानवाद को जन्म देता है। पर बौद्ध विज्ञानवाद की अपनी विशेषताएँ हैं जिनका हम थोड़ा सा विवरण यहाँ देंगे।

अगर कान्ट ने मानव-जगत् की संरचना के मूल में कुछ ऐसी बौद्धिक प्रत्ययों की कोटियों को माना था जो स्वयं बुद्धि के स्वरूप में ही निहित हैं तो बौद्ध विज्ञानवाद ने मानव-जगत् की सृष्टि के मूल में एक अनादि वासना को देखा था जो उनके अनुसार इस जगत्-प्रतीति की हेतु बनती है। वैयक्तिक स्तर पर तो जो बात स्वप्न में साफ़-साफ दिखाई देती है और जागृत अवस्था में भी काफी हद तक विचार करने पर स्पष्ट परिलक्षित होती है वह यह है कि हमारा प्रत्येक का जगत् भी वही होता है जो हमारी इच्छा, रुचि और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पुरुषार्थ द्वारा रचित होता है। जैसे ही हम किसी क्षेत्र में रुचि लेना बन्द कर देते हैं या हमें उसमें रस या आनन्द की अनुभूति नहीं होती, या उसके अपने निहित मूल्यों और आदर्शों को अर्थहीन मानते हैं वैसे ही वह जगत् हमारे लिए एक तरह से जगत् ही नहीं रहता। अधिक गहराई से देखें तो इस जगत् की संरचना उन सब लोगों के मिलकर जानने से उत्पन्न होती है जो उसके नियमों का पालन करते हैं और उसके पुरुषार्थ को साधने में रस और आनन्द लेते हैं। उसी में जीत और हार होती है। खेल इसका सबसे पहला उदाहरण है। सोचिए, आज के युग में हर रोज़ लाखों लोग अनेक प्रकार के खेलों में संलग्न रहते हैं और उनकी हार-जीत के बारे में लाखों दर्शक उस रस-जगत् का आनन्द लेते हैं। यही नहीं, अनेक तो उससे इतना तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं कि खेलने वाले की हार-जीत स्वयं उनकी हार-जीत हो जाती है, यहाँ तक कि हारने पर कई लोग तो आत्महत्या भी कर लेते हैं। अब विचार करें यह कैसा जगत् है? इसमें सुख-दुःख, आनन्द, इच्छा, प्रयत्न सब कुछ है। 24 घण्टे लोग इसमें लगे रहते हैं और उनके जीवन का पुरुषार्थ ही यह बन जाता है कि वे अपने खेल में दुनिया के सबसे अच्छे खिलाड़ी माने जायें। पर अगर किसी की इसमें रुचि नहीं है तो उसके लिए यह जगत् एक प्रकार से होता ही नहीं है। खेल तो इसका सहज उदाहरण है जो सब की समझ में आ सकता है, पर अन्य क्षेत्र भी कुछ इससे कम विस्मयकारक नहीं हैं। शेयर बाज़ार लीजिए जहाँ लाखों का सौदा रोज़ होता है और कोई एक क्षण में ही रईस बन जाता है दूसरा दिवालिया। और भी अनेक क्षेत्र इसी प्रकार अपने-अपने जगत् की रचना करते हैं चाहे वह कला के हों या शक्ति या ज्ञान के या अध्यात्म के, इन सब के मूल में इच्छा, रुचि ओर पुरुषार्थ होते हैं जो इन विभिन्न जगतों की रचना करते हैं। बुद्धि और अहम्-भाव सृष्टि करते हैं, बनाते हैं, क्योंकि ये दोनों ही उन विशिष्ट इच्छाओं, रुचियों और पुरुषार्थों का आधार होते हैं। जन्म के साथ ही देह, मन, बुद्धि और अहम् का मनुष्य के सन्दर्भ में जन्म होता है और मरण तक ये सब उसके साथ रहकर एक मूलभूत जगत् की सृष्टि करते हैं जिसके अन्य सब विशिष्ट जगत् इच्छानुसार, रुचि के अनुसार और पुरुषार्थ के द्वारा रचित होते हैं। पर बौद्ध विज्ञानवाद, और एक तरह से कहें तो सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति में, यह कहने की कोशिश की गई है कि मनुष्य का जन्म कोई आकस्मिक चीज़ नहीं है। उसके पीछे अनादि वासना-प्रवाह है जो बार-बार जन्म-मरण का हेतु बनता है। प्रसिद्ध पश्चिमी दार्शनिक शोपेन हावर ने, जो भारतीय औपनिषद दर्शन से बहुत प्रभावित थे, इसको 'विल टू लिव' का नाम दिया है। हिन्दी में इसे हम जिजीविषा कह सकते हैं। विज्ञानवाद की मूल दृष्टि यही है कि चेतना अपने जगत् की रचना करती है और इन रचनाओं का मूल कोई ऐसी इच्छा या वासना है जिसका उसको स्वयं पता नहीं है। पर अगर ऐसा है तो फिर इच्छा की निवृत्ति कब और कैसे होती है? क्या एक इच्छा के समाप्त होने पर दूसरी इच्छा जन्म लेती है? क्या यह कोई अनन्त और अनिवार्य शृंखला है जिसका न कोई आदि है और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

न कोई अन्त? भारतीय मानस ने इसका अन्त हमेशा माना है यद्यपि इस का आरम्भ नहीं माना है।

एक प्रकार से बौद्ध विज्ञानवाद की यह दृष्टि बुद्ध की उस दृष्टि की व्याख्या ही कही जा सकती है जिसमें सब को 'दुःख' रूप में देखा गया है और दुःख का मूल कारण उस तृष्णा को माना गया है जो कभी शान्त नहीं हो सकती। 'दुःख' का यहाँ अर्थ ही यह है कि सब नाशवान् है। परन्तु यह तो तभी कहा जा सकता है जब इस की पूर्व-मान्यता यह हो कि जो चिरन्तन है, स्थायी है, अनश्वर है वही सुखात्मक हो सकता है या वैसी अवस्था को ही सुख का नाम दिया जा सकता है। अगर बुद्ध की दृष्टि की यह पूर्वमान्यता है तो फिर उसमें और वैदिक परम्परा से जुड़ी हुई अधिकांश दार्शनिक दृष्टियों में क्या कोई भेद रह जाएगा? वास्तव में यदि हम बौद्ध दृष्टि को उसके 'तत्त्वज्ञान' सम्बन्धी विचार के परिप्रेक्ष्य में देखें तो ऐसा लगेगा कि बुद्ध की बात को इस प्रकार से समझने में एक मूलभूत 'भूल' यह है कि उस दृष्टि में तो 'दुःख' तभी उत्पन्न हो सकता है जब हम सत् के स्वरूप को ठीक प्रकार से न समझें। और चूँकि सत् का स्वरूप न नित्य है, न चिरन्तन और न स्थायी इसलिए उसको ऐसा मानने पर ही मूल दृष्टि-दोष उत्पन्न होता है और वही मनुष्य के 'दुःख' का कारण बनता है। हम सहज रूप में यह मानते हैं कि जो जैसा है वैसा ही रहेगा और इसी से भ्रम उत्पन्न होता है। चूँकि कुछ भी जैसा है वैसा नहीं रहता, इसलिए मनुष्य हमेशा 'परेशान' नज़र आता है। इस संदर्भ में यह बात ध्यान रखने की है कि बौद्ध दर्शन के 'सत्' को इस प्रकार देखने की प्रवृत्ति ने ही क्षणिकवाद को जन्म दिया, जिसके अनुसार सत् वास्तव में क्षणिक है। इस क्षणिक के आधार में कोई स्थिर-शाश्वत सत्य है, यह मानना ही अज्ञान और दुःख है।

अगर हम बौद्ध दृष्टि को इस तरह से देखें तो लगेगा कि 'दुःख' का मूल कारण यह भ्रम ही है कि सत् परिवर्तनशील नहीं है। पर क्या दुःख-सुख को इस प्रकार से देखना ठीक है? वैसे तो दुःख भी होता है और सुख भी। और चेतना की ऐसी अवस्थाएँ बहुत-सी होती हैं जिन्हें हम न सुख ही कह सकते हैं और न दुःख ही। और 'सुख-दुःख' भी कोई एक प्रकार के नहीं होते और यह भी सही नहीं लगता कि दोनों में सदैव इतना फर्क है कि उनका एक-दूसरे से न सम्बन्ध है और न कोई मिश्रण। यह ठीक है कि सुख स्थायी नहीं होता, पर अगर वह स्थायी हो तो शायद सुख ही न रहे, दुःख में परिवर्तित हो जाये। दूसरी ओर दुःख भी तो स्थायी नहीं रहता और उसके होने पर यह सान्त्वना होती है कि यह भी चला जाएगा। कहने का आशय यह है कि सुख-दुःख के सम्बन्ध में बौद्ध चिन्तन न उतना स्पष्ट है न उतना सत्य जितना सब लोग मान बैठे हैं। एक प्रकार से यह बात सारे भारतीय चिन्तन के बारे में कही जा सकती है जो उसमें सुख-दुःख के सम्बन्ध में मिलता है। 'सत्' और सुख-दुःख के सम्बन्ध को किस प्रकार से समझें यह अपने आप में एक प्रश्न है जिस पर स्वतंत्र रूप से विचार होना चाहिए।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

एक तरह से देखें तो सुख-दुःख का विचार मनुष्य को मूल रूप में भोक्ता मानता है और चेतना को एक ऐसे रूप में देखता है जैसे उसका कार्य केवल आस्वाद लेना है। उपनिषद् की प्रसिद्ध उक्ति में तो यह स्पष्ट ही कहा गया है कि एक डाल पर दो मित्र पक्षी बैठे हैं जिनमें एक फल चखता है और उसका आस्वाद लेता है और उससे उसे सुख-दुःख होता है और दूसरा पक्षी उसे केवल देखता है, वह चखता नहीं है। चेतना के ये दो पक्ष ही भारतीय चिन्तन में प्रधानतः दिखते हैं और इसके अनुसार या तो चेतना आस्वाद चखती है, भोगती है और या केवल देखती है। इस दृष्टि में कर्म की कहीं चर्चा नहीं है, और न ही चेतना को 'रचयिता' के रूप में देखा गया है। चेतना स्वयं सृष्टि भी कर सकती है ऐसा तो इस दृष्टि में सोचा ही नहीं गया है। हालांकि काश्मीर शैव दर्शन में 'विमर्श' को चेतना का सहज स्वाभाविक और अनिवार्य गुण माना गया है परन्तु वहाँ भी यह स्पष्ट नहीं है कि 'विमर्श' का अर्थ केवल 'विचार प्रक्रिया' है या कि सृजन की शक्ति? यह ठीक है कि बाद में 'शक्ति' की चर्चा भी की गई है और शिवशक्ति को समन्वित रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा भी उस दर्शन में मिलती है, पर इस सब विचार में साधारणतः शिव की ही प्रधानता है और शक्ति को शिव का सहज अन्तरंग रूप नहीं माना गया है। हालांकि यह भी सच है कि यह कहा गया है कि शक्ति के बिना शिव केवल 'शव-मात्र' है। जो भी हो, यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि चेतना के स्रष्टा रूप पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। जहाँ कर्म की चर्चा है भी वहाँ भी कर्म को या तो धर्म के परिप्रेक्ष्य में देखा गया है या काम और अर्थ पुरुषार्थों के संदर्भ में, और अन्ततोगत्वा उसे बन्धन का कारण ही माना गया है। मनुष्य की परमावस्था उसी को माना गया है जिसमें कर्म तो क्या कर्म की सम्भावना भी नहीं हो। जहाँ शक्ति की चर्चा की भी गई है वहाँ शक्ति के सृष्टि पक्ष की ओर कम ध्यान दिया गया है और विनाशकारी पक्ष की ओर अधिक।

इस सब का आशय एक तरह से इस ओर ध्यान दिलाना ही है कि सुख-दुःख-केन्द्रित विचार चेतना के उन अन्य पक्षों की ओर ध्यान नहीं देता जो वास्तव में उसके अधिक गहरे और सार्थक पक्ष दिखाई देते हैं। दूसरी ओर वह स्रष्टा पक्ष के संदर्भ में उत्पन्न होने वाले भावों की चर्चा नहीं करता। यह ठीक है कि भरत के नाट्यशास्त्र में इनकी विशद चर्चा है, पर उन सब का संदर्भ नाट्य को समझने की चेष्टा है, न कि मनुष्य की चेतना को।

एक तरह से देखें तो भरत ने भी मानव के भाव जगत् को मानवीय सम्बन्धों से उत्पन्न होते हुए ही देखा है मानव-सर्जन से उत्पन्न होते हुए नहीं। नाटक स्वयं एक 'कृति' होते हुए भी मानवीय जगत् की 'अनुकृति' के रूप में ही प्रस्तुत होती है। नाटककार मनुष्य के उस भावात्मक जगत् का चित्रण नहीं करता जो उसका स्वयं के कृतित्व के द्वारा निर्मित होता है और न ही किसी नाटककार ने मानवीय सम्बन्धों को एक आदर्श कृतित्व की रचना के रूप में देखता है। रामायण शायद इसका अपवाद है। पर वह भी आदर्श

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

मानवीय सम्बन्धों को किसी पुरुषार्थ के रूप में प्रस्तुत नहीं करती बल्कि कुछ ऐसा मानकर चलती है कि वह आदर्श मनुष्य को पूर्ण-रूपेण उपलब्ध है और उसे केवल उनको चरितार्थ करना है, उनकी खोज करना नहीं। यही नहीं, उसमें यह भी कहीं आभास नहीं मिलता कि मानवीय सम्बन्धों का आदर्श कृतित्व अनेक भिन्न-भिन्न रूप ले सकता है। इसलिए यह कहना अनुचित नहीं होगा कि मनुष्य की चेतना के कृतित्व पक्ष को केन्द्र में रखकर विचार ही नहीं किया गया है। यह सच है कि 'कर्म' की बात भारतीय दर्शन में बहुत की गई है और उसका धर्म से अनिवार्य सम्बन्ध देखा गया है। इस अनिवार्य सम्बन्ध की विडम्बना धर्मसंकट को कृति द्वारा पकड़ने की चेष्टा में है। पर कर्म का जो कृतित्व पक्ष है और कृतित्व में जो एक सहज आनन्द है उसकी चर्चा बहुत कम है। इसी तरह कृति, कर्म द्वारा सृजित रचना, को देखकर जो भावात्मक जगत् उत्पन्न होता है उसकी चर्चा तो और भी कम है। इस संदर्भ में यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि किसी मानवीय कृति या कर्म द्वारा रचित रचना का रसास्वादन कोई उस प्रकार के 'फल' का चखना नहीं है जिसकी उपनिषद् में चर्चा की गई है। इसके लिए तो 'सहृदय' होना पड़ता है और सहृदय होने में भी परिश्रम या साधना की ज़रूरत होती है, इसके अभाव में कृति को समझना भी मुश्किल है और उसमें 'रस' लेना तो और भी दूर की बात है। भारतीय चिन्तन में 'लीला' शब्द से शायद यही अभिप्राय है। पर वास्तव में कृति-कर्म और इनके द्वारा रचित वस्तु के स्वरूप को और उससे सहज रूप में उत्पन्न 'रस' या 'आनन्द' को 'लीला' शब्द पूर्ण रूप से अभिव्यक्त नहीं करता। यहाँ इतना तो ज़रूर है कि 'लीला' शब्द में वह नकारात्मक ध्वनि नहीं है जो 'माया' शब्द के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई है।

बी 189/ए, विश्वविद्यालय मार्ग,
बापूनगर, जयपुर 302015

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अनेकान्त का अर्थ

आचार्य महाप्रज्ञ

जैन दर्शन के चिन्तन का आधार है आगम। उसमें कहीं भी अनेकान्त शब्द का प्रयोग नहीं है। अनेकान्त का प्रयोग दर्शन युग के प्रारम्भ में हुआ। सम्भवतः सबसे पहले सिद्धसेन दिवाकर ने इसका प्रयोग किया।

अनेकान्त का मूल आधार नय है। **भगवती सूत्र** में स्थान स्थान पर सत् का प्रतिपादन द्रव्यार्थक और पर्यायार्थक दो नयों से किया गया है। आचार्य सिद्धसेन के अनुसार द्रव्यार्थक और पर्यायार्थक नय परस्पर सापेक्ष हैं। इन दोनों के सापेक्ष होने का नाम है अनेकान्त।[1]

भारतीय दर्शन का चिन्तन कूटस्थनित्यवाद और क्षणिकवाद इन दो तटों के बीच प्रवाहित हुआ है। साँख्यदर्शन-सम्मत प्रकृति परिणामिनित्य है—वह नित्य भी है और उसमें परिणमन भी होता है, किन्तु साँख्यदर्शन का पुरुष कूटस्थ नित्य है, उसमें कोई परिणमन नहीं होता। वैशेषिक दर्शन के अनुसार पृथ्वी कारण रूप में नित्य है और कार्य रूप में अनित्य, किन्तु आत्मा, ईश्वर, आकाश—इनमें कोई परिणमन नहीं होता। बौद्ध दर्शन-सम्मत सत् क्षणिक है—यत् सत् तत् क्षणिकम्, यथा जलधरः। बौद्ध दर्शन में नित्य का सिद्धान्त सर्वथा अमान्य है। वेदान्त का ब्रह्म कूटस्थ नित्य है और माया परिणामी है। वह 'सत्-असत् अनिर्वचनीय' है।

उक्त दार्शनिक चिन्तन से फलित होता है कि नित्य और अनित्य का नियम व्यापक नहीं है। सब पर लागू होने वाला नहीं है। अनेकान्त का नियम सम्पूर्ण सत् पर लागू होता है, इसलिए सार्वभौम है। आचार्य हेमचन्द्र ने इस व्यापक नियम को काव्य की भाषा में प्रस्तुत किया—

आदीपमाव्योमसमस्वभावं
स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्य-
दिति त्वदाज्ञाद्विषतां प्रलापाः॥ (—अन्ययोगव्यवच्छेदिका, 5)

द्रव्यार्थक नय की दृष्टि में सत् अनुत्पन्न और अविनष्ट है—न उत्पन्न होता है, न नष्ट। पर्यायार्थक नय की दृष्टि से पर्याय उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। **भगवती सूत्र** में सत् के दो अंशों का प्रतिपादन किया गया है—स्थिर और अस्थिर। स्थिर अंश नित्य है, वह कभी नहीं बदलता। अस्थिर अंश बदलता रहता है—अथिरे पलोट्टइ, थिरे न पलोट्टइ।"

द्रव्यार्थक और पर्यायार्थक इन दो नयों के आधार पर ही उमास्वाति ने सत् की परिभाषा की है—उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। **(तत्त्वार्थ सूत्र, 5/29)**

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सत् त्रिलक्षणात्मक है इसलिए वह अनेकान्तात्मक है। अनेकान्त के बिना उसके स्वरूप को समझा नहीं जा सकता। सत् नित्य है—यह एक दृष्टि हैं, और सत् अनित्य है—यह दूसरी दृष्टि है। ये दोनों एकान्त दृष्टियाँ हैं। सत् नित्यानित्यात्मक है—यह अनेकान्त दृष्टि है। इसकी यही विशेषता या नवीनता है कि सत् में नित्य और अनित्य दोनों का युगपत् स्वीकार है।

अनेकान्त शब्द का अर्थ

'अनेकान्त' शब्द-रचना की दृष्टि से निषेधात्मक है किन्तु तात्पर्य की दृष्टि से वह निषेधात्मक नहीं है। अनेकान्त द्रव्य और पर्याय की सापेक्षता का वाचक है। केवल द्रव्य और केवल पर्याय की सत्ता सम्भव नहीं है।[3] सत् का स्वरूप ही अनेकान्तात्मक है तो उसे समझने के लिए 'एकान्त' शब्द का प्रयोग किया नहीं जा सकता। अनेक का अर्थ 'एक से अधिक' है, पर उसका अर्थ 'अनिश्चित' या 'अनन्त' नहीं है। सत् त्रिलक्षणात्मक है इसलिए अनेक का अर्थ 'अनिश्चित' नहीं है। वह केवल पर्याय की अनन्तता का वाचक नहीं है इसलिए अनेक का अर्थ 'अनन्त' नहीं है। पर्याय क्रमभावी धर्म है। एक द्रव्य में एक साथ अनंत पर्यायों का होना सम्भव नहीं है। उसका आविर्भाव युगपद् नहीं होता।[4]

अनन्तधर्मात्मकं वस्तु—यह वाक्य मिलता है। इसका आशय वस्तु में अनन्त पर्याय अथवा अन्तहीन परिणमन की क्षमता है। इसलिए वह अपने स्वरूप का त्याग किये बिना नाना रूपों में परिणमन करती रहती है।

अनेकांत का उद्भव क्यों हुआ?

सत् या द्रव्य ज्ञेय है। नय, अनेकान्त और स्याद्वाद ये ज्ञानात्मक हैं, उसे जानने के साधन हैं। कभी हमारे मन में सत् के अखण्ड रूप को जानने का अध्यवसाय होता है, कभी हम उसके खण्ड-खण्ड को जानने का अध्यवसाय करते हैं। एक ही सत् को अनेक अध्यवसायों के साथ जानने का प्रयत्न नयवाद, अनेकान्तवाद और स्याद्वाद का मूल आधार बनता है।

नयवाद सत् के खण्ड-खण्ड को जानने की प्रक्रिया है। द्रव्यार्थक दृष्टि में द्रव्य वस्तु है और पर्याय अवस्तु है। पर्यायार्थक दृष्टि से पर्याय वस्तु है और द्रव्य अवस्तु है।[5]

द्रव्यार्थक नय द्रव्य को ग्रहण करने वाली दृष्टि है; पर्याय उसका विषय नहीं है किन्तु यह पर्याय का निरसन नहीं करता। इसलिए वह एकान्त दृष्टि होने पर भी नय है। यदि द्रव्यार्थक नय पर्याय का निरसन करे तो वह एकान्त दृष्टि दुर्नय बन जाती है। इसी प्रकार पर्यायार्थक नय पर्याय का ग्रहण करता है, फिर भी वह द्रव्य का निरसन नहीं करता। इसलिए एकान्त दृष्टि होने पर भी वह नय है। यदि द्रव्यार्थक नय पर्याय का निरसन करे तो वह एकान्त दृष्टि दुर्नय बन जाती है। निरपेक्ष एकान्त दृष्टि ने दार्शनिक चिन्तन में काफी उलझनें पैदा की हैं। अनेकान्त उन उलझनों को सुलझाने का एक साधन है। यदि द्रव्यार्थक और पर्यायार्थक नय परस्पर निरपेक्ष हों तो अनेकान्तिक दृष्टि का उद्भव नहीं हो पाता।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सत् में परिणमन की क्षमता है और परिणमन सत् का ही एक अंग है। ध्रौव्य और परिणमन दोनों सर्वथा पृथक् नहीं हो सकते, परस्पर निरपेक्ष नहीं हो सकते। उनकी निरपेक्षता का निराकरण करने के लिए ही अनेकान्त का उद्भव हुआ।

स्याद्वाद क्या है?

अनेकान्त का उद्भव द्रव्यार्थक और पर्यायार्थक दो नयों की सापेक्षता के आधार पर हुआ है। उस सापेक्षता की अभिव्यक्ति का सूचक है—स्याद्वाद। अनेकान्तक के दो विकल्प बनते हैं—नित्य-अनित्यः, अस्ति-नास्ति, सामान्य-विशेषः, एक-अनेक, वाच्य-अवाच्य—इन विकल्पों के पीछे छिपी हुई एकता स्याद्वाद के द्वारा प्रमाणित होती है। गौतम ने प्रश्न पूछा—रत्नप्रभा पृथ्वी शाश्वत है या अशाश्वत? महावीर ने उत्तर दिया—"स्याद् शाश्वत है, स्याद् अशाश्वत।" स्याद्वाद में पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों विकल्पों की स्वीकृति है। शाश्वत और अशाश्वत ये दोनों विरोधी धर्म एकसाथ कैसे हो सकते हैं? इसके उत्तर में महावीर ने कहा—"द्रव्यार्थक नय की दृष्टि से रत्नप्रभा पृथ्वी शाश्वत है, पर्यायार्थक नय की दृष्टि से अशाश्वत है।"

नय, अनेकान्त और स्याद्वाद ये तीनों का उपयोग तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में होता है।

सप्तभंगी

सत् के अनेक पर्याय होते हैं। प्रत्येक पर्याय का स्वरूप-निर्धारण करने के लिए तीन विकल्पों (भंगों) की रचना की गई है—अस्ति, नास्ति, अवक्तव्य। इस त्रिभंगी के द्वारा सत् के स्वरूप का प्रतिपादन किया जा सकता है। उदाहरण के लिए द्विप्रदेशी स्कन्ध (द्व्यणुक) के दो अंश हैं। "वह अपने स्वरूप की अपेक्षा से सत् है और परस्वरूप की अपेक्षा से असत् है।"[6]

आधुनिक विज्ञान के उदाहरण से समझें तो हाइड्रोजन परमाणु में दो कण हैं—एक इलेक्ट्रोन और एक प्रोटोन। इलेक्ट्रोन ऋण विद्युत् वाला है, परमाणु की परिधि में गतिशील है। प्रोटोन धन विद्युत् वाला है, परमाणु के केन्द्र में स्थिर है। अपने स्वरूप की अपेक्षा से इलेक्ट्रोन सत् है, प्रोटोन के स्वरूप की अपेक्षा से इलेक्ट्रोन असत् है।

प्रश्न उपस्थित हो सकता है—पर-स्वरूप की अपेक्षा से असत् हैं, यह साधारण बात है। इसे सिद्धान्त रूप में प्रतिपादित करना आवश्यक नहीं है। जैसे डॉ॰ दयाकृष्ण ने प्रश्न उपस्थित किया है—"कोई भी नकारात्मक प्रतिज्ञप्ति इतनी अधिक विस्तृत और थोथी है कि उसे वास्तविक वर्णन के अर्थ में महत्त्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। जैसे, यदि एक लाल गुलाब जैसी चीज़ वास्तविक है और हम कह रहे हैं कि 'यह गुलाब लाल है' तब हम न केवल इस बात का निषेध कर रहे हैं कि उसमें अन्य रंग हैं अपितु इसका भी निषेध कर रहे हैं कि 'वह हाथी है', या 'असंख्य अन्य पदार्थों में कोई एक है' जिनके लिए 'गुलाब' शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता। किन्तु जब हम एक पदार्थ के लिए संज्ञा के रूप में गुलाब शब्द को काम में लेते हैं तब वह अन्य असंख्य पदार्थों में से कोई नहीं है, ऐसा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कहने का क्या तात्पर्य हो सकता है? यह तो निश्चित ही अवधारित है कि अन्य शब्द गुलाब शब्द के पर्यायवाची नहीं हैं, जैसे कि यह भी अवधारित है कि एक ही भिन्नार्थक या अनेकार्थक शब्द गुलाब भिन्न-भिन्न संदर्भों में अन्य अर्थ का बोध भी दे सकता है।"

इस प्रश्न का उत्तर बहुत संक्षेप में दिया जा सकता है। गुलाब के घटक परमाणु वर्तमान में गुलाब के रूप में परिणत हैं, अतीत में वे गुलाब नहीं थे और भविष्य में भी वे गुलाब नहीं रहेंगे। इसलिए गुलाब के घटक परमाणु वर्तमान पर्याय की अपेक्षा से गुलाब हैं। अतीत और भविष्य की अपेक्षा से गुलाब नहीं हैं।

गोपीनाथ कविराज के गुरु विशुद्धानंदजी सूर्यविज्ञान के द्वारा गुलाब को पत्थर में तथा पत्थर को गुलाब में बदल देते थे।

दूसरा उदाहरण लिया जा सकता है पानी का। 'यह पानी है'—वर्तमानकालीन पर्याय में। ज्यों ही उसमें विद्युत् प्रवाह से इलेक्ट्रोलाइसिस क्रिया की जायेगी वही पानी वायु—आक्सीजन और हाइड्रोजन में बदल जाएगा। अब वह पानी नहीं, वायु है। (पुनः यदि पानी बनाना है, उल्टी क्रिया करने से वायु पानी बन जायेगा।)

वर्तमान पर्याय को सामने रख कर गुलाब या पानी सत् है। अतीत या भावी पर्याय की अपेक्षा से वह सत् नहीं है। इसलिए विधि-निषेध का प्रतिपादन त्रैकालिक पर्यायों की अपेक्षा से किया जाता है।

तत्त्व में दो प्रकार की शक्तियाँ होती हैं। एक शक्ति अपने अस्तित्व में विद्यमान रहने की शक्ति है। इस शक्ति का नाम अगुरुलघु गुण है—(स्वस्वरूपाविचलनत्वम् अगुरुलघुत्वम्—**जै.सि. दीपिका, 1/38**)—इस शक्ति का विधिवाक्य के द्वारा प्रतिपादन किया जाता है।

दूसरी शक्ति अपने अस्तित्व को असंकीर्ण बनाए रखती है। इससे पदार्थ स्वतंत्र रह सकता है, दूसरे पदार्थों से असंकीर्ण या पृथक् रह सकता है। इस शक्ति का प्रतिपादन निषेध वाक्य के द्वारा किया जाता है। इस प्रकार अस्ति-नास्ति या विधिवाक्य और निषेधवाक्य काल्पनिक नहीं हैं या इनका प्रयोग अनावश्यक नहीं है। जो है और जो नहीं है—इन दोनों का प्रतिपादन केवल विधिवाक्य के द्वारा नहीं हो सकता। गुलाब का फूल धतूरे के फूल से भिन्न है, यह व्यावहारिक ज्ञान है, उसके लिए अस्ति-नास्ति का प्रयोग करना आवश्यक नहीं है। किन्तु गुलाब का फूल और धतूरे का फूल दोनों का मूल आधार एक ही पुद्गलास्तिकाय है, किन्तु गुलाब के फूल में जिन परमाणु-स्कन्धों का परिणमन है वे धतूरे के फूल के परमाणु-स्कन्ध से भिन्न हैं। इसलिए गुलाब का फूल धतूरे के फूल से अपनी भिन्नता बनाए हुए है। यदि दोनों के परमाणु-स्कन्धों का परिणमन एक ही प्रकार का होता तो गुलाब का फूल धतूरे का फूल बन जाता और धतूरे का फूल गुलाब का बन जाता। इसलिए अभेद-भेद, एकता और अनेकता के प्रतिपादन की पद्धति केवल विधिवाक्य द्वारा नहीं हो सकती।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

गुलाब का फूल भी पुद्गलास्तिकाय का एक पर्याय है और धतूरे का फूल भी पुद्गलास्तिकाय का एक पर्याय है। किन्तु वर्तमान में दोनों पर्याय एक-दूसरे से भिन्न हैं। भविष्य में ऐसा हो सकता है कि धतूरे के फूल में परिणत परमाणु-स्कन्ध गुलाब के फूल के रूप में परिणत हो जाए और गुलाब के फूल के रूप में परिणत स्कन्ध धतूरे के रूप में परिणत हो जाए। किन्तु वर्तमान क्षण में जिन परमाणु-स्कन्धों का गुलाब के फूल के रूप में परिणमन हुआ है उनका धतूरे के फूल के रूप में परिणत परमाणु-स्कन्धों से पार्थक्य बतलाए बिना वस्तु की व्यवस्था ही नहीं हो सकती। एक सामान्य व्यक्ति के लिए गुलाब और धतूरा पृथक्-पृथक् हैं, यह स्पष्ट है, किन्तु परिणमन के सिद्धान्त को जानने वाले व्यक्ति के लिए गुलाब और धतूरा सर्वथा पृथक् नहीं हैं। वे दोनों परमाणु स्कन्धों के परिणमन हैं। किन्तु ये परिणमन भविष्य में परिवर्तित भी हो सकते हैं। त्रैकालिक दृष्टि से हम कहना चाहेंगे कि धतूरे का फूल भी परमाणु स्कन्ध से निष्पन्न है और गुलाब का फूल भी परमाणु स्कन्ध से निष्पन्न है इसलिए दोनों में अभेद है। किन्तु वर्तमान पर्याय की अपेक्षा से हम दोनों को एक नहीं मान सकते। इसलिए विधि और निषेध दोनों का बोध हमारे लिए अनिवार्य हो जाता है।

'अवक्तव्य' का विकल्प वेदान्त के 'ब्रह्म' की भाँति अनिर्वचनीय नहीं है किन्तु जिस क्षण में वर्तमान पर्याय का अस्तित्व है उसी क्षण में भावी पर्याय का नास्तित्व है। एक ही क्षण में दोनों को युगपत् नहीं कहा जा सकता, इसलिए 'अवक्तव्य' यह विकल्प प्रस्तुत किया गया है। दोनों को एकसाथ जाना जा सकता है, कहा नहीं जा सकता—यह वाग्जनित विवशता है।

सर्वज्ञ

'अनेकान्त' ज्ञानात्मक है और 'अनेकान्तात्मक द्रव्य' ज्ञेयात्मक है। अनेकान्त का आधार सत् अथवा द्रव्य का स्वरूप है। द्रव्य का स्वरूप उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। उसे कोई केवलज्ञानी जानता है अथवा श्रुतज्ञानी जानता है, उसमें कोई अन्तर नहीं हो सकता। केवल इतना अंतर हो सकता है कि केवलज्ञानी उसे साक्षात् जानता है, श्रुतज्ञानी श्रुतज्ञान के आधार पर जानता है। इसलिए अनेकान्त का नियम सब पर लागू होता है। द्रव्य पर्याय के बिना नहीं होता इसलिए वह द्रव्य पर भी लागू होता है। जैन दर्शन में पारमार्थिक सत्ता और व्यावहारिक सत्ता पृथक्-पृथक् नहीं हैं। पर्याय व्यावहारिक सत्ता और द्रव्य पारमार्थिक सत्ता है, किन्तु वास्तव में दोनों संयुक्त हैं—दोनों एक ही सत् के दो रूप हैं, इसलिए उन्हें सर्वथा स्वतंत्र रूप में नहीं देखा जा सकता।

सत् का प्रतिपादन केवली करे तो उसे भी स्याद्वाद और सप्तभंगी का प्रयोग करना होगा और कोई श्रुतज्ञानी करे तो उसे भी स्याद्वाद और सप्तभंगी का प्रयोग करना होगा। वाक्-प्रयोग का नियम दोनों के लिए समान है। द्रव्य का स्वरूप नित्यानित्य है। केवलज्ञानी उसके स्वरूप का प्रतिपादन ऐकान्तिक भाषा से कैसे करेगा? उसे स्याद्वाद की भाषा का प्रयोग करना ही होगा, जैसे—द्रव्य स्यात् नित्य है, स्यात् अनित्य है। 'त्रिप्रदेशी (त्र्यणुक)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

स्कन्ध का एक अंश आदिष्ट है—किसी अपेक्षा से कहा जा रहा है, दूसरा अंश आदिष्ट नहीं है—किसी अपेक्षा से नहीं कहा जा रहा है।' त्रिप्रदेशी स्कन्ध का प्रतिपादन चाहे केवली करे, चाहे श्रुतज्ञानी करे—दोनों में कोई अन्तर नहीं हो सकता।

अनेकान्त सिद्धान्त के प्रतिपादन की पद्धति में केवलज्ञानी और श्रुतज्ञानी का विभाग नहीं किया जा सकता। स्याद्वाद का सिद्धान्त अल्पज्ञता और सर्वज्ञता से सम्बद्ध नहीं है। अल्पज्ञ का ज्ञान ऐकान्तिक होता है—ऐसा स्वीकार करने का कोई कारण नहीं है। अखण्ड सत्य को जानने वाले का ज्ञान अनैकान्तिक और खण्ड सत्य को जानने वाले का ज्ञान ऐकान्तिक होता है, यह अनेकान्त का अभिमत नहीं है। अनेकान्त-ज्ञान का आधार द्रव्य की त्रयात्मकता है, अल्पज्ञता और सर्वज्ञता नहीं। जो सर्वज्ञ के ज्ञान का विषय है वह सम्पूर्ण विषय एक अल्पज्ञ श्रुतज्ञानी का भी हो सकता है। जैसा पहले कहा जा चुका है, सर्वज्ञ अखण्ड सत्य का साक्षात्कार कर लेता है और अल्पज्ञ सर्वज्ञ की वाणी के आधार पर, शास्त्र के आधार पर, उसका ज्ञान करता है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि अल्पज्ञ का ज्ञान ऐकान्तिक ही है।

द्रव्य की नित्यता और अनित्यता सर्वज्ञ या अल्पज्ञ के ज्ञान द्वारा आरोपित नहीं है। नित्य और अनित्य द्रव्य होता है, ज्ञान नहीं होता। क्योंकि द्रव्य अपने अन्तरंग स्वभाव में नित्य-अनित्य है, ज्ञाता के ज्ञान के आधार पर नहीं है। द्रव्य का यह स्वभाव जैसे सर्वज्ञ के लिए नित्यानित्यात्मक होगा वैसे अल्पज्ञ के लिए भी नित्यानित्यात्मक होगा।

पारमार्थिक और व्यावहारिक सत्य

नित्यता और अनित्यता का सिद्धान्त सब पर लागू होता है इसलिए इसमें पारमार्थिक सत्ता और व्यावहारिक सत्ता का भेद नहीं किया जा सकता। यदि यह भेद करना इष्ट ही हो तो जैन दृष्टि से कहा जा सकता है—द्रव्य पारमार्थिक सत्ता है और पर्याय व्यावहारिक सत्ता है। ये दोनों सत्ताएँ पृथक्-पृथक् नहीं हैं, इसलिए सत् अथवा द्रव्य की नित्यानित्यात्मक स्वीकृति में कोई कठिनाई नहीं होगी।

शक्यता की धारणा

द्रव्य अनेकान्तात्मक है—इसके दो अर्थ हो सकते हैं। पहला अर्थ यह है कि उसके उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीन अंश हैं इसलिए उसको अनेकान्तात्मक कहा जा सकता है। इसका दूसरा अर्थ है कि द्रव्य में अनेक पर्याय—असंख्य या अनन्त पर्याय—होते रहते हैं, इसलिए यह अनंतधर्मात्मक है।

पर्याय दो प्रकार के होते हैं—1. स्वभाव पर्याय (या अर्थ पर्याय) और 2. व्यञ्जन पर्याय। स्वभाव पर्याय सूक्ष्म होता है, प्रतिसमय वह बदलता रहता है। समय—काल का सूक्ष्मतम अविभाज्य अंश। उसके परिवर्तन की बारह कोटियाँ हैं।[7]

हम इन्द्रिय-चेतना के द्वारा सूक्ष्म पर्याय को नहीं जान सकते। वह अतीन्द्रिय चेतना का विषय है। व्यञ्जन पर्याय स्थूल है। यह व्यक्त होता है, इसलिए हम इन्द्रिय-चेतना के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

द्वारा भी उसे जान सकते हैं। स्थूल पर्याय के क्षेत्र में शक्यता और सम्भावना इन दोनों पर विचार किया जा सकता है। प्रत्येक पर्याय में अर्थान्तर की शक्यता है इसीलिए वर्ण से वर्णान्तर, गंध से गंधान्तर, रस से रसान्तर और स्पर्श से स्पर्शान्तर होता है। यति भोज ने शक्ति के दो प्रकार बतलाए हैं—ओघ शक्ति और समुचिता शक्ति। ओघ शक्ति परम्पर कारण है और समुचित शक्ति अनन्तर कारण है। 'घास' में 'घी' बनने की शक्यता है। 'घी' की समुचिता शक्ति 'दही' है। यह उसका अनन्तर कारण है। शक्यता की सूची इतनी लंबी है कि उसका नामोल्लेख नहीं किया जा सकता। सिद्धान्ततः इतना कहा जा सकता है कि प्रत्येक वस्तु में ओघ शक्ति या शक्यता के असंख्य प्रकार हैं। एक अनुसन्धाता वैज्ञानिक ओघ शक्ति के कुछ प्रकारों को अपने अनुसंधान अथवा प्रयोग के द्वारा जान सकता है। एक अतीन्द्रिय ज्ञानी अपनी अतीन्द्रिय चेतना के द्वारा उसको जान सकता है, किन्तु एक साधारण आदमी समुचित शक्ति या अनन्तर कारण को ही जान सकता है अथवा व्यक्त पर्याय को ही जान सकता है। इसलिए शक्यता और सम्भावना के क्षेत्र को सीमित नहीं किया जा सकता है।[8]

सत् के पाँच प्रकार हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय। इनमें कभी परिवर्तन नहीं होता। जीव कभी पुद्गल नहीं बनता, पुद्गल कभी जीव नहीं बनता। सत् या मूल द्रव्य निरपेक्ष सत्य है। सापेक्ष सत्य केवल पर्याय हैं। मनुष्य मूल द्रव्य नहीं है, वह भी एक पर्याय है। दिखाई देने वाले जितने पदार्थ हैं वे भी सब पर्याय हैं, मूल द्रव्य नहीं हैं। पर्याय निष्पन्न पदार्थ एक दूसरे में बदलते रहते हैं, इसलिए ये सर्वथा भिन्न नहीं हैं। इनकी भिन्नता और अभिन्नता को समझने के लिए अनेकान्त का भेदाभेद सिद्धान्त उपयोगी है। ये दृश्य पदार्थ अपने-अपने आकार, गुणधर्म और विशेष लक्षण में अवस्थित हैं, इसलिए उनमें भेद हैं। पारा सोना नहीं, सोना पारा नहीं है। पारा भी पौद्गलिक है और सोना भी पौद्गलिक है। पारा सोने में बदल सकता है और सोना पारे में बदल सकता है। इस परिणमन के आधार पर इनमें अभेद है। इनमें एकान्त भेद और एकान्त अभेद नहीं है, किन्तु भेदाभेद है। आधुनिक विज्ञान द्वारा सम्मत रेडियोक्रियाशीलता का उदाहरण इस बात को और अधिक स्पष्ट कर सकता है। यूरेनियम, जिसका आणविक क्रमांक 92 है, प्रकृतिगत रेडियोधर्मिता के कारण एक सुनिश्चित अवधि में सीसे के रूप में परिणत हो जाता है जिसका आणिवक क्रमांक 82 है। सोने और पारे के आणविक क्रमांक क्रमशः 79 और 80 हैं।

अनेकान्त की मर्यादा है। उसका प्रयोग सत्ता या द्रव्य की मीमांसा में ही होता है, अर्थात् द्रव्य और पर्याय के सापेक्ष संबोध के लिए ही होता है। अस्तिकाय निरपेक्ष है, उसमें अनेकांत का कोई उपयोग नहीं है। इसलिए अनेकांत दृष्टि को सर्वत्र लागू करना अभीष्ट नहीं है। गणितानुयोग में क्वचित् अनेकांत का प्रयोग हो सकता है, किन्तु उसका सार्वत्रिक प्रयोग सम्भव नहीं है। सुप्रसिद्ध साँख्यिकीविद् डॉ॰ पी. सी. महालनोबीस ने स्याद्वाद को 'आधुनिक साँख्यिकी के मूलभूत आधारों का प्राग्रूप माना है।'[9]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

युगपत्ता

अनेकान्त में अशक्यता और असम्भवता का अस्वीकार नहीं है। जीव में परमाणु के पर्याय का होना शक्य भी नहीं है और सम्भव भी नहीं है। इसी प्रकार अजीव में जीव के पर्याय सम्भव या शक्य नहीं हैं। 'अशक्य' को 'शक्य' बनाना और 'असम्भव' को 'सम्भव' बनाना अनेकान्त का कार्य नहीं है। अनेकान्त का कार्य है—द्रव्य और पर्याय—शाश्वत और अशाश्वत में प्रतिभासित होने वाले विरोध का परिहार करना। क्षणिकवाद की दृष्टि में परिवर्तन यथार्थ है, सत्य है और शाश्वत अयथार्थ है, कूटस्थनित्यवाद की दृष्टि में नित्यता सत्य है और क्षणिकता अयथार्थ है। शाश्वत और अशाश्वत में यह विरोध का प्रतिभास है—यह सत् या द्रव्य के स्वरूप को समझने में जटिलता पैदा कर रहा है। अनेकान्त ने इस समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया है, दोनों में वैयधिकरण्य नहीं है। दोनों का अधिकरण एक ही सत् है। इसलिए ध्रौव्य तथा उत्पाद और व्यय को विभक्त कर सत् को नहीं समझा जा सकता। क्या लकड़ी से पृथक् मेज़ की कल्पना की जा सकती है? क्या मिट्टी से पृथक् घट की कल्पना की जा सकती है? तन्तु से पृथक् पट की कल्पना की जा सकती है? क्या द्रव्य से पृथक् पर्याय के आधार को खोजा जा सकता है? यह सम्भव नहीं है। इस असम्भव का स्वीकार करके ही अनेकान्त ने समाधान प्रस्तुत किया है।

एक द्रव्य में पर्याय का क्रम चलता रहता है। जैसे ध्रौव्य सत् का स्वभाव है वैसे उत्पाद-व्यय भी सत् का स्वभाव है। द्रव्य और पर्याय का युगपत् होना कोई दार्शनिक समस्या नहीं है। जिस क्षण में ध्रौव्य है उसी क्षण में उत्पाद और व्यय भी है। इसलिए उनका युगपत् भाव साहचर्य के नियम से बँधा हुआ है। हम लोग सब नियमों को सर्वत्र लागू करते हैं—यह हमारे चिन्तन की समस्या है। कृत दो क्रियाएँ युगपत् नहीं हो सकतीं—यह कृत का नियम है, किन्तु स्वाभाविक क्रियाएँ एक साथ अनेक हो सकती हैं। उन पर कृत का नियम लागू नहीं होता। शरीर की कोशिकाओं के चय और अपचय का क्रम निरन्तर चालू रहता है। चय और अपचय दोनों युगपत् होते रहते हैं। एक द्व्यणुक स्कन्ध सकम्प और निष्कम्प दोनों प्रकार का हो सकता है, उसका एक परमाणु सकम्प है और दूसरा निष्कम्प। उसमें दोनों धर्म युगपत् हैं। युगपत् का तात्पर्य है—परिवर्तन की त्रैकालिकता का स्वीकार।

जैन दर्शन में वास्तविक और सम्भाव्य—ये दोनों प्रकार के पर्याय मान्य हैं। मिट्टी में घट का पर्याय सम्भाव्य है, मिट्टी वास्तविक है। एक व्यक्ति दश श्लोकों का पाठ करने का प्रयत्न कर रहा है। एक श्लोक का उच्चारण किया—यह वास्तविकता है और नव श्लोकों का उच्चारण करने वाला है, यह सम्भाव्य है। जैसे ही उसने दूसरे श्लोक का उच्चारण शुरू किया, पहले श्लोक के शब्द आकाशिक संग्रह में चले गए और दूसरे श्लोक का उच्चारण वास्तविक बन रहा है और तीसरे श्लोक का उच्चारण सम्भाव्य है। हम वर्तमान पर्याय या आकार को वास्तविक मानते हैं—यह नियम व्यापक नहीं है। सार्वभौम नियम यह है कि प्रथम श्लोक का उच्चारण जो आकाशिक संग्रह में चला गया वह उच्चारण

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पर्याय के रूप में वास्तविक नहीं है किन्तु शब्द के परमाणु के रूप में अब भी वास्तविक है। तीसरा श्लोक जो अनुच्चारित है, वह भी आकाशिक संग्रह का एक हिस्सा है। वह उच्चारण के रूप में अभी वास्तविक नहीं है, किन्तु शब्द के परमाणु के रूप में वास्तविक है। इसलिए हम वास्तविक और सम्भाव्य में सर्वथा भेद की परिकल्पना नहीं कर सकते। भेदाभेद की कल्पना ही हमें यथार्थ की ओर ले जा सकती है। जैन दर्शन ने युगपत् के सिद्धान्त की व्याख्या द्रव्य के त्रैकालिक स्वरूप और परिवर्तनशील अवस्थाओं के आधार पर की है। इसलिए 'विद्यमान' और 'अविद्यमान' की व्याख्या केवल एक वर्तमानकालिक नियम के आधार पर नहीं की जा सकती।

जैन दर्शन ने भाषा अर्थात् बोलने की प्रक्रिया की बड़ी सूक्ष्मता से व्याख्या की है। उसके अन्तर्गत बताया गया है कि भाषा-वर्गणा के पुद्गलों का ग्रहण कर व्यक्ति उसे भाषा के रूप में परिणत करता है तथा फिर उनका विसर्जन करता है। इस प्रक्रिया में प्रथम समय में भाषा-वर्गणा के पुद्गलों का ग्रहण होता है, दूसरे समय में उनका निसर्ग (विसर्जन) होता है। दूसरे समय में ही पुनः नये पुद्गलों का ग्रहण होता है, तीसरे समय में निसर्ग होता है। इस प्रकार लगातार पूर्वगृहीत का निसर्ग तथा नये का ग्रहण एक साथ होता है। इससे यह फलित होता है कि एक ही समय में ग्रहण और निसर्ग—दोनों क्रियाओं का सम्पादन किया जाता है। इसमें यह ध्यान रखने योग्य है कि जिनका ग्रहण पूर्व समय में किया था उनका निसर्ग वर्तमान समय में होता है, इसी वर्तमान समय में पुनः नये पुद्गलों का ग्रहण भी होता है। अर्थात् यदि 'अ' का निसर्ग हो रहा है तो 'ब' ग्रहण हो रहा है। किन्तु एक ही समय में 'अ' का ग्रहण और 'अ' का ही निसर्ग सम्भव नहीं है।[10]

उपसंहार

अनेकान्त का सिद्धान्त दूसरे मत-मतान्तरों के एकान्तवाद का प्रतिवाद करने के लिए नहीं है। उसका उद्भव सत्य-स्वरूप की मीमांसा के लिए हुआ है। सत् का स्वरूप द्रव्यार्थक और पर्यायार्थक—इन दो नयों के द्वारा व्याख्यायित हुआ है। नय एकांत है। एकान्त-दृष्टि का विरोध करना अनेकांत का कार्य नहीं है। सापेक्ष एकान्त-दृष्टि अनेकान्त-सम्मत है। अनेकांत द्वारा उसी एकान्त-दृष्टि की समीक्षा की गई है जो निरपेक्ष एकान्त है। यह समीक्षा का कार्य भी मध्य-युग—दार्शनिक युग में हुआ। आगम युग में उसका उपयोग केवल सत्स्वरूप की मीमांसा तक रहा है।

संदर्भ

1. जेण दुवे एगन्ता विभज्जमाणा अणेगन्तो।—सन्मति तर्क, 1/14
2. भगवती सूत्र 1/440
3. दव्वं पज्जवविउयं दव्वविउत्ता य पज्जवा णत्थि।
   उप्पाय-ट्ठिइ-भंगा हंदि दवियलक्खणं एयं।—सन्मतितर्क, 1/12
4. 'अयुगपदवस्थायिनः पर्यायाः'—तत्त्वार्थ सूत्र भाष्यानुसारिणी टीका, 5/38
5. दव्वट्ठियवत्तव्वं अवत्थु णियमेण पज्जवणयस्स।
   तह पज्जववत्थु अवत्थुमेव दव्वट्ठियनयस्स।—सन्मति तर्क, 1/10

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

6. भगवती सूत्र, 12/28 : 'आया भंते! दुपएसिए खंधे? अण्णे दुपएसिए खंधे? गोयमा! दुपएसिए खंधे 1. सिय आया 2. सिय नोआया 3. सिय अवत्तव्वं—आयाति य नोआयाति य 4. सिय आया य नोआया य 5. सिय आया य अवत्तव्वं—आयाति य नो आयातिय 6. सिय नो आया य अवत्तव्वं—आयाति य नोआयाति य।'

7. 'अगुरुलघुविकाराः स्व-भावपर्यायास्ते द्वादशधा षड्वृद्धिहानिरूपाः। अनन्तभागवृद्धिः, असंख्यातभागवृद्धिः, संख्यातभागवृद्धिः, संख्यातगुणवृद्धिः, असंख्यातगुणवृद्धिः, अनन्तगुणवृद्धिः, इतिषड्वृद्धिः। तथा अनन्तभागहानिः, असंख्यातभागहानिः, संख्यातभागहानिः, संख्यातगुणहानिः, असंख्यातगुणहानिः, अनन्तगुणहानिः, इति षड् हानिः। एवं षड्वृद्धिहानिरूपाः, द्वादश ज्ञेयाः। 'आलापपद्धतिः, पर्यायाधिकारः, माइल्लधवल विरचित नयचक्र में परिशिष्ट 1, पृ. 211, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1971

8. द्रव्यानुयोगतर्कणा—श्लोक 6, 7 :

"गुणपर्याययोः शक्तिमात्रमोघोद्भवादिमा।
आसन्नकार्ययोग्यत्वाच्छक्तिः समुचिता परा॥
ज्ञायमाना तृणत्वेनाज्यशक्तिरनुमानतः।
किंच दुग्धादिभावेन प्रोक्ता लोकसुखप्रदा॥"

9. पी. सी. महलनोबिस का पूरा लेख—The Foundations of Statistics डाइलेक्टिका भाग 8, नं. 2, 15 जून 1954—स्वीटजरलेन्ड में प्रकाशित है। इसका कुछ अंश इस प्रकार है—I should now like to make some brief observations of my own on the connection between Indian-Jains views and the foundations of statistical theory. I have already pointed out that the fourth category of syadvada, namely, avaktavya or the 'indeterminate' is a synthesis of three earlier categories of (1) assertion ('it is'), (2) negation ('it is not'), and (3) assertion and negation in succession. The fourth category of syadvada, therefore, seems to me to be in essence the qualitative but not quantitative aspect of the modern concept of probability...

At the same time it is of interest to note that 1500 or 2500 years ago, syadvada seems to have given the logical background of statistical theory in a qualitative form.

Secondly, I should like to draw attention to the Jaina view that 'real is a particular which possesses a generic attribute.' This is very close to the concept of an individual in relation to the population to which it belongs. The Jaina view in fact denies the possibility of making any predication about a sinle and unique individual which would be also true in modern statistical theory.

The third point to be mooted is the emphasis given in Jaina philosophy on the relatedness of things and on the multiform aspects of reals which appear to be similar (again in a purely qualitative sense) to the basic ideas underlying the concepts of

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

association, correlation and concomitant variation in modern statistics.

The Jaina views of 'existence, persistence and cessation' as the fundamental characteristics of all that is real necessarily leads to a view of reality as something relatively permanent and relatively changing which has a fervor of statistical reasonging. 'A real changes every moment and at the same time continues' is a view which is somewhat sympathetic to the underlying idea of stochastic processes...

Finally, I should draw attention to the realist and pluralist views of Jaina philosophy and the continuing emphasis on the muliform and intently diversified aspects of reality which amounts to the acceptance of an "open" view of the universe with scope for unending change and discovery. For reasons explained above, it seems to me that the ancient Indian Jain philosophy has certain interesting resemblances to the probabilistic and statistical view of reality in modern times."

10. प्रज्ञापन वृत्ति, पत्र 264

कश्चिदेकस्मिन् समये भाषापुद्गलान् गृहीत्वा तदनन्तरं मोक्षसमये अनुपादानं कृत्वा पुनस्तृतीये समये गृह्णात्येव न मुञ्चति, द्वितीये समये प्रथमसमयगृहीतान् पुद्गलान् मुञ्चति अन्यान्नादत्ते, अथान्येन प्रयत्नविशेषेण ग्रहणमन्येन च प्रयत्नविशेषेण (च) निसर्गः तौ च परस्परं विरुद्धौ परस्परविरुद्धकार्यकरणात् ततः कथमेकस्मिन् समये तौ स्यातां? तदयुक्तं, जीवस्य हि तथास्वाभाव्यात् द्वावुपयोगावेकस्मिन् समये न स्यातां, ये तु क्रियाविशेषास्ते बहवोऽप्येकस्मिन् समये घटन्त एव, तथादर्शनात् तथाहि—एकापि नर्तकी भ्रमणादिनृत्तं विदधाना एकस्मिन्नपि समये हस्तपादादिगता विचित्राः क्रियाः कुर्वती दृश्यते, सर्वस्यापि वस्तुतः प्रत्येकमेकस्मिन् समये उत्पादव्ययावुपजायेते, एकस्मिन्नेव च समये सव्रतपरिशाटावपि, ततो न कश्चिद्दोषः, आह च भाष्यकृत्—गहणनिसग्गपयत्ता परोप्पविरोहिणो कहं समये? समए दो उवओगा न होज्ज किरियाण को दोसो? ॥1॥ इति, तृतीये पुनः समये तानेष द्वितीयसमयोपात्तान् पुद्गलान् मुञ्चति न पुनरन्यानादत्ते, उत्कर्षेण त्वसङ्ख्येयान् यावन्निरन्तरं गृह्णाति, तथा चाह—उत्कर्षेण सङ्ख्येयान् समयान् गृह्णाति इति योगः, कदाचित् परोऽसङ्ख्येयैः समयैरेकं ग्रहणं मन्येत तत आह—'अनुसमयं' प्रतिसमयं गृह्णाति, तदापि कदाचिद्विरहितमपि व्यवहारतोऽनुसमयमित्युच्येत ततस्तदाशङ्क्य व्यवच्छेदार्थमाह—अविरहितं, एवं निरन्तरं गृह्णाति, तत्राद्ये समये ग्रहणमेव न निसर्गः, अगृहीतस्य निसर्गाभावात्, पर्यन्तसमये च मोक्ष एव, भाषाभिप्रायोपरमतो ग्रहणासम्भवात्, शेषेषु द्वितीयादिषु समयेषु ग्रहणनिसर्गौ युगपत्करोति। स्थापना चेयम्—

ग्र	ग्र	ग्र	ग्र	ग्र	0
0	नि	नि	नि	नि	नि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

शास्त्रमूर्त्ति धर्मदत्त (बच्चा) झा वैदुष्य एवं व्यक्तित्व

किशोरनाथ झा

प्रख्यात नैयायिक अप्रतिम प्रतिभा के धनी धर्मदत्त (बच्चा) झा उस मैथिल वैद्वत्परम्परा की अन्तिम पीढ़ी में आते हैं जिसमें ब्रह्मसिद्धि के रचयिता मण्डन मिश्र, तात्पर्याचार्य वाचस्पति मिश्र, आत्मतत्त्वविवेक के प्रणेता उदयनाचार्य, तत्त्वचिन्तामणिकार गङ्गेश उपाध्याय, इसी चिन्तामणि की आलोक टीका के रचयिता पक्षधर प्रसिद्ध जयदेव मिश्र एवं पदवाक्यरत्नाकर आदि मौलिक ग्रन्थों के प्रणेता गोकुलनाथ उपाध्याय पहले से विद्यमान हैं।

आबाल्यादेकमनसा मया यूयमुपासिताः।
युष्माभिः सर्वविद्याभिः कृतं साहायकं मम॥

विद्या के प्रति गोकुलनाथ की कृतज्ञता के इस पद्य ने स्वनामधन्य बच्चा झा के मन को अधिक आकृष्ट किया। फलतः इन्होंने इसी सरणि का अनुसरण कर श्रम की परवाह किये बिना प्रणिधानपूर्वक सभी विद्याओं को अधिगत किया और इसके फलस्वरूप सहस्राधिक शिष्यों को कृतविद्य किया। अपनी विलक्षण प्रतिभा से प्रसूत कृतियों के द्वारा उत्तरसाधकों का उपकार कर इन्होंने अक्षुण्ण कीर्ति भी अर्जित की। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में इन्होंने अपनी विलक्षण प्रतिभा तथा सतत परिश्रम से न्यायशास्त्रीय विवेचन (चिन्तन) को उस ऊँचाई पर पहुँचा दिया जहाँ तक पहुँचना आज के प्रतिभासम्पन्न के लिए भी दुष्कर है।

मिथिला चिरकाल से न्याय और मीमांसा का केन्द्र रहा है, क्योंकि ये दोनों ही विचारशास्त्र हैं। इनके इसी प्रकर्ष के कारण चतुर्दशविद्याओं के परिगणन के समय महर्षि याज्ञवल्क्य ने भारतीय दर्शन की केवल इन्हीं दो विद्याओं का उल्लेख किया है—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

न्याय और मीमांसा शास्त्रान्तर की तरह केवल मोक्ष या पुरुषार्थचतुष्टय के उपाय के उपदेश में ही मर्यादित नहीं हैं अपितु शास्त्रान्तरों के परिज्ञान में भी सहायक होते रहे हैं। शास्त्रीय पदार्थों की अवगति के उपाय इन दोनों ही शास्त्रों में निर्दिष्ट हैं अतः इन्हें प्रक्रिया-शास्त्र भी कहा जाता है। डॉ॰ सर गङ्गानाथ झा ने इसकी पुष्टि में कहा है कि मीमांसा वाक्यार्थ के विचार में सीमाबद्ध है और उसके उपोद्बलन में युक्ति का परिशीलन न्यायशास्त्र द्वारा सम्पन्न होता है। इसी में सभी दर्शनों का अनुप्रवेश संभव है, क्योंकि दर्शनशास्त्र तत्त्व जानने की इच्छा ही से तो प्रेरित होता है। जहाँ प्रतिपाद्य अतीन्द्रिय होते

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

हैं उन अतीन्द्रिय प्रतिपाद्यों का ज्ञान स्वयंसिद्ध प्रामाण्य से युक्त वेदवाक्यों के उपयोग के बिना संभव नहीं है। अतः वेदवाक्यों के अर्थ विचारात्मक मीमांसा अत्यन्त उपादेय है। प्रामाणिक विषय भी केवल शब्द-प्रमाण से सिद्ध रहने पर उतना विश्वसनीय नहीं होता है जिससे इष्टसिद्धि हो सके, अतः युक्त्यात्मक न्याय की आवश्यकता होती है।[1]

पदार्थों की अवगति के लिए न्यायशास्त्र में उद्देश्य, लक्षण तथा परीक्षा की प्रणाली निर्दिष्ट है। परीक्षा-विधि में यहाँ प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयवरूप न्यायवाक्य का प्रयोग होता है और इस प्रयोग में प्रमेय को छोड़कर न्यायशास्त्र के प्रायः सभी पञ्चदश पदार्थों का उपयोग हो जाता है। इसी तरह लौकिक या वैदिक वाक्यों के अर्थ-निर्धारण हेतु मीमांसाशास्त्र का उद्भव हुआ है जहाँ अधिकरण प्रणाली से वाक्यार्थ का निर्णय किया जाता है, सन्दिग्ध विषय को लेकर पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष के द्वारा निर्णय पर पहुँचना इसका लक्ष्य है।

विषयो विषयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्।
निर्णयश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्॥

यही कारण रहा होगा कि मिथिला में न्याय और मीमांसा के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा विशेष रूप से प्रचलित हुई।

गङ्गेश उपाध्याय (1300) ने **तत्त्वचिन्तामणि** के मंगल पद्य में इस बात का सङ्केत किया है। उन्होंने कहा है—न्याय और प्रभाकर मीमांसा का गुरुमुख से अध्ययन करके चिन्तनरूपी दिव्यदृष्टि से उन दोनों शास्त्रों के सारभाग का विवेचन करके स्वल्प शब्द से तत्त्वों का विचार प्रस्तुत करता हूँ।[2]

न्यायतत्त्वालोक के आरम्भ में द्वितीय वाचस्पति मिश्र (1500) ने इसका अनुसरण करते हुए कहा है कि कर्ममीमांसकों के कुल में जन्म लेकर गुरु से न्यायशास्त्र का अध्ययन कर उन शास्त्रों के तत्त्वों को समझ लिया है।[3] इसी परम्परा में दीक्षित होने की लालसा से विद्या के क्षेत्र में होने से धर्मदत्त (बच्चा) झा ने भी इन्हीं दोनों शास्त्रों का गुरुमुख से विशेष अध्ययन किया। नव्यन्याय के पाठ्य ग्रन्थों पर इनका क्रोडपत्र (विवेचन) इनके असाधारण वैदुष्य का परिचायक है।

क्रोडपत्र का परिचय

गदाधर भट्टाचार्य के बाद, अर्थात् अट्ठारहवीं शताब्दी के आरम्भ से, मौलिक ग्रन्थ लिखने की अपेक्षा क्रोडपत्र लिखने की प्रथा अधिक रही है जो सर्वथा मौलिक चिन्तन ही कहा जाएगा। जगदीश, गदाधर या अन्य जिस किसी प्रतिनिधि लेखक की किसी पंक्ति के ऊपर प्रत्येक नैयायिक अपने प्रबुद्ध छात्रों को पढ़ाते समय कुछ न कुछ नवीन चिन्तन अवश्य करते रहे हैं और शिष्यों के द्वारा इन चिन्तकों को अभ्यास एवं लिपिबद्ध कराकर सुरक्षित रखते रहे हैं। यह नवीन चिन्तन गुरु-परम्परा, शास्त्रान्तरों के अध्ययन तथा अपनी ऊहापोह की प्रतिभा का समष्टि या व्यष्टि रूप में प्रयोग करने से उद्भूत होता रहा है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

मिथिला में इसे 'गुणकीलन' (गुडकिल्ली) तथा अन्यत्र 'परिष्कार' या 'विवेचना' नाम दिया गया।

ग्रन्थ के मध्य में विद्यमान किसी पंक्ति विशेष पर चूँकि यह टिप्पणी के रूप में कहा या लिखा जाता रहा है अतः इसका अन्वर्थक नाम क्रोडपत्र है। 'क्रोड' पद शरीर के मध्यभाग का वाचक है और ग्रन्थ के मध्य में उक्त स्वतन्त्र चिन्तन को लिपिबद्ध कर रक्खा जाता रहा है अतः यह 'क्रोडपत्र' पद से प्रसिद्ध है। उदाहरण के द्वारा उसे यहाँ इस तरह स्पष्ट किया जा सकता है। व्युत्पत्तिवाद के मध्य में एक पंक्ति है—"भेदान्वयबोधश्च प्रातिपदिकार्थधात्वर्थयोः प्रत्ययार्थेन क्वचिन्निपातार्थेन च समभेव जायते न त्वन्येन"।[4] इसका अर्थ यह होता है कि प्रत्ययार्थ और निपातार्थ के साथ नामार्थ और धात्वर्थ का भेद-सम्बन्ध से (अर्थात् अभेद से अतिरिक्त सम्बन्ध से) अन्वयबोध होता है, अन्य के साथ नहीं। इसका प्रत्युदाहरण[5] राज्ञः पुरुषः, भूतले घटः, पचति तण्डुलः तथा पच्यते चैत्रः आदि यहाँ दिखाया गया है। इस पर मैथिल नैयायिक बच्चा झा के नवीन चिन्तन रूप क्रोडपत्र का एक अंश यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

शाब्दबोधसम्बन्धी भेदसम्बन्धावच्छिन्न (अभेद से भिन्न सम्बन्धावच्छिन्न) प्रातिपदिकार्थ और धात्वर्थ अन्यतरनिष्ठा विषयता प्रत्ययार्थ और निपातार्थ अन्यतर निष्ठ विषयता निरूपिता ही होती है अन्यार्थनिष्ठ विषयतानिरूपिता नहीं। व्युत्पत्ति के आधार पर ऐसा नियम माना जाता है। इसी नियम के आधार पर सिद्ध होता है कि नामार्थ के साथ अपर नामार्थ का साक्षात् अन्वय-भेद (अभेदातिरिक्त) सम्बन्ध से नहीं होता है। यद्यपि राज्ञः पुरुषः इस विग्रह-वाक्य में सम्बन्ध अर्थ में विहित षष्ठी विभक्ति से उपस्थापित स्वत्वसम्बन्ध को मध्य में रखकर स्वत्वरूप भेद-सम्बन्ध से राजा और पुरुष के अन्वय बोध का निर्वाह हो जाता है तथापि 'राजपुरुषः' इस समासवाक्य स्थल में राज पदार्थ का पुरुष पदार्थ के साथ भेद सम्बन्ध से ही अन्वयबोध होगा। क्योंकि विशेषण वाचक राजपद प्रकृतिक लुप्त विभक्ति के अनुसन्धान के अभाव में स्वत्वरूप भेद सम्बन्ध से पुरुषरूप नामार्थ के साथ राजरूप पदार्थ का अन्वय होगा इससे यह तो उपपन्न होगा कि विग्रह और समस्त वाक्यों के अन्वयबोध में समानाकारता होती है किन्तु यह नहीं सिद्ध होगा कि दो नामार्थों का साक्षात् अन्वय केवल अभेद सम्बन्ध से होता है।[6] इसके समाधान में गदाधरभट्टाचार्य[7] ने कहा है कि पुरुष पदार्थ के साथ राज पदार्थ का भेद सम्बन्ध से अन्वयबोध नहीं होगा अपितु विभक्त्यन्त राजपद से परिगृहीत लाक्षणिक अर्थ राजसंम्बन्ध के साथ पुरुष पदार्थ का अभेदसम्बन्ध से ही अन्वय बोध होता है।

इस विचार को आगे बढ़ाते हुए बच्चा झा ने कहा है [8]राजपुरुषः इस समस्तवाक्यस्थल में षष्ठी विभक्ति के अभाव में सम्बन्धरूप षष्ठी विभक्त्यर्थ के नहीं मानने पर तथा राज सम्बन्धी रूप अर्थ में राजपद की लक्षणा करने पर समास और विग्रहवाक्यों के अन्वयबोध में समानाकारता के नियम का अनुपालन नहीं हो सकेगा—यही पहली आपत्ति होगी। समासस्थल में राजसम्बन्धी से अभिन्न पुरुष का बोध होता है अर्थात् राज पद का लाक्षणिक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अर्थ राजसम्बन्धी अभेद सम्बन्ध से पुरुष में अन्वित होता है और विग्रह वाक्यस्थल में षष्ठी विभक्ति का सम्बन्ध अर्थ मानकर उसके मध्य में रहने से स्वत्वरूप भेद सम्बन्ध से राजा का पुरुष के साथ अन्वय होता है। स्वत्वरूप भेद सम्बन्ध के मध्य में व्यवधान होने के कारण राजा और पुरुष नामार्थों का भेद सम्बन्ध से साक्षात् अन्वय भी नहीं होता है। फलतः नामार्थों का भेद सम्बन्ध से साक्षात् अन्वय नहीं होता है—इस नियम का अनुपालन ही हुआ है भंग नहीं।

यहाँ दूसरी आपत्ति यह होगी कि राजपुरुषः इस समस्त वाक्य में यदि राजसम्बन्धी में राजपद की लक्षणा मानेंगे तो यहाँ तत्पुरुष समास है या कर्मधारय इसका निर्णय नहीं हो पाएगा। प्रायः इसी आपत्ति से बचने के लिए गङ्गेश उपाध्याय ने शब्दखण्ड[9] चिन्तामणि के समासवाद में राजसम्बन्धी में राजपद की लक्षणा नहीं मानकर राजसम्बन्ध में उस पद की लक्षणा मानी है। इस स्थिति में राजसम्बन्ध रूप राजपदार्थ (नामार्थ) का स्वत्वरूप भेद सम्बन्ध से पुरुष पदार्थ में अन्वय होने के कारण उक्त नियम का व्यभिचार स्पष्ट ही है। यदि [10]इस नियम को नहीं माना जाए तो विभक्ति का वृत्तिकल्पन ही व्यर्थ हो जाएगा और 'राजा पुरुषः' आदि स्थल में भी भेद सम्बन्ध से उक्त रीत्या अन्वयबोध होने लगेगा, जो कदापि इष्ट नहीं है। इस पूर्वपक्ष के उत्तर में बच्चा झा ने कहा है कि [11]असमाधेय आपत्ति की केवल शङ्का कर देने से अन्वय और व्यतिरेक से सिद्ध नियम का परित्याग नहीं किया जा सकता है। समासस्थल में राजपुरुषः वाक्यघटक राजपद की राजसम्बन्धी में लक्षणा करने पर उक्त नियम की व्यभिचार-शङ्का का समाधान हो जाता है। अतः उक्त नियम परित्याज्य नहीं उपादेय है।

जहाँ तक विग्रहवाक्य और समासवाक्य के अन्वयबोध में समानाकारता के नियम का प्रश्न है—इसके उत्तर में बच्चा झा का कहना है कि उक्त नियम में कोई प्रमाण नहीं है अतः उसको निर्विवाद नहीं माना जा सकता है। बहुव्रीहि समास में तो इस नियम का व्यभिचार स्पष्ट ही है। पीताम्बर पद से पीत से अभिन्न अम्बर वाले व्यक्ति का बोध होता है और पीताम्बरं यस्य इस विग्रह वाक्य से यत्सम्बन्धित पीत से अभिन्न अम्बर का बोध होता है। इस तरह समास और विग्रह वाक्य के बोध में एकाकारता का नियम सार्वत्रिक नहीं माना जा सकता है। यदि बहुव्रीहि से भिन्न समास में उक्त नियम की उपपत्ति मानी जाए—अर्थात् बहुव्रीहि से भिन्न समास में उक्त नियम लागू होता है—यह कहा जाए, तो तत्पुरुष भेद का निवेश भी किया जा सकता है—अर्थात् तत्पुरुष और बहुव्रीहि से भिन्न समास वाक्य और विग्रह वाक्य के अन्वय बोध में समानाकारता का नियम लगता है। विभक्ति के [12]वाचक मानने पर राजपुरुषः इस समस्तवाक्य में राजपद की राजसम्बन्धी अर्थ में लक्षणा मानना ही उचित प्रतीत होता है। अन्यथा विभक्ति की द्योतकता पक्ष में समास और विग्रहवाक्य में भेदसम्बन्ध से अन्वय बोध होने लगेगा। अवधेय है कि यहाँ दोनों ही पक्षों को (विभक्ति की द्योतकता और वाचकता को) लेकर (विद्वानों के बीच)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पर्याप्त शास्त्रार्थ हुआ है और निष्कर्ष में किसी पक्ष विशेष को युक्त नहीं माना जा सका है।

यद्यपि[13] **शब्दचिन्तामणि** के समासवाद में गङ्गेश उपाध्याय ने राजपुरुषः इस समस्तवाक्य घटक राजपद की सम्बन्ध में लक्षणा मानी है सम्बन्धी में नहीं तथापि बच्चा झा ने यहाँ कहा है कि गङ्गेश उपाध्याय का चिन्तामणि तो सिद्धान्तों का आकर है, उसमें समीचीन और असमीचीन दोनों पक्षों का रहना स्वाभाविक है, जैसे रत्नाकर (समुद्र) में रत्न और उससे भिन्न दोनों ही पाये जाते हैं। इससे सम्बन्धी में लक्षणा पक्ष का अप्रामाण्य सिद्ध नहीं होता है। इससे तो यही प्रतीत होता है कि बच्चा झा ने गङ्गेश उपाध्याय के मत का अर्थात् उक्त स्थल में सम्बन्ध में लक्षणा पक्ष का आदर नहीं किया है। इसका आधार इनका अनुभव एवं चिन्तन की प्रखरता ही माना जाएगा। चूँकि समास और विग्रह वाक्य के अन्वयबोध में समानाकारता विवादग्रस्त है अतः उसके आधार पर किसी अनुपपत्ति से रक्षा की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, न उचित ही है। फलतः **गदाधर भट्टाचार्य की पंक्ति सर्वथा युक्तियुक्त है जहाँ राजसम्बन्धी में लक्षणा मानकर उसे अभेद सम्बन्ध से पुरुष में अन्वयबोध की बात कही गयी है—यही झा महाशय का हार्दिक अभिप्राय इस क्रोडपत्र में निहित प्रतीत होता है।** पुनश्च, साधक प्रमाण और बाधक प्रमाणाभाव की स्थिति में किसी वस्तु या विचार की दृढ़ता होती है। इस दृष्टि से झा महाशय ने अपने मत में पूर्वपक्ष उठाकर उसके समाधान के द्वारा उसकी दृढ़ता एवं प्रमाणपूर्णता का प्रयास किया है। पूर्वपक्ष होता है कि उक्त स्थल में सम्बन्ध में लक्षणा नहीं मानकर सम्बन्धी में लक्षणा मानने पर कर्मधारय समास होगा, अभिलषित समास षष्ठी तत्पुरुष नहीं। स्वघटक पदार्थों का अभेद सम्बन्ध से शाब्दबोध कर्मधारय समास में ही होता है। अब तत्पुरुष समास में उस लक्षण के अतिव्याप्त होने पर सम्बन्धी में लक्षणा करना यहाँ बाधित हो जाएगा।

इसके उत्तर में झा महाशय ने कहा है कि विभक्ति की द्योतकता मानने वालों ने कर्मधारय का उपर्युक्त लक्षण स्वीकार किया है, उसकी वाचकता मानने वालों ने नहीं। इस मत में—विभक्ति की द्योतकता मत में—कर्मधारय से भिन्न समास स्थल में भेदसम्बन्ध से ही अन्वयबोध माना गया है। मेरी दृष्टि से तो यहाँ विभक्त्यर्थ को मध्य में रखकर भेदसम्बन्ध से शाब्दबोध होता है उस स्थल में तत्पुरुष समास मान्य है और जहाँ समास घटक पदों के अव्यवहित उत्तर में विभक्ति के अदर्शन रहने पर भी विभक्ति-विधायक शास्त्र द्वारा स्मारित विभक्तियुक्त पदों का तथा इसके सजातीय विग्रहवाक्य घटक पदों का अभेदान्वयबोध होता है, वहाँ कर्मधारय समास होता है। अथवा समास-घटक पदार्थ के विशेष्यत्व रहने पर उक्त समासघटक पदों के अव्यवहित उत्तर में उत्पत्ति योग्य विभक्त्यर्थवत्व का अन्तर्भाव करके बिना लक्षणा का सामानाधिकरण्य कर्मधारय समास में होता है और लक्षणा के माध्यम से सामानाधिकरण्य तत्पुरुष समास में होता है। फलतः यहाँ सम्बन्धी में लक्षणा मानने पर भी किसी प्रकार की आपत्ति या अनुपपत्ति नहीं होती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वङ्गाभिजन जयदेव तर्कालङ्कार, शङ्कर तर्कवागीश, गोलोकनाथ भट्टाचार्य, चन्द्रनारायण न्यायपञ्चानन, काली शङ्कर भट्टाचार्य तथा बलदेव भट्टाचार्य आदि की स्वतन्त्र चिन्तनधारा क्रोडपत्रों में सुरक्षित है। इन सबका हस्तलेख या मुद्रितरूप आज उपलब्ध है। मैथिलों में ऋद्धिनाथ झा, विश्वनाथ झा, लोकनाथ झा, बबुजन झा तथा दुःखमोचन झा आदि के क्रोडपत्र भी उपलब्ध हैं। अध्ययन के बल पर इन सबके सारभागों का संकलन कर अपनी कल्पना शक्ति से झा महाभाग ने इस गूढ़ार्थतत्त्वालोक नामक क्रोडपत्र का प्रणयन किया है। अत एव इसका प्रौढ़ होना स्वाभाविक है।

यद्यपि सूत्रशैली में लिखने के कारण यह गूढ़ार्थतत्त्वालोक परवर्ती प्रतिभासम्पन्न नैयायिकों के लिए भी दुखबोध हो गया है तथापि उनकी शिष्यपरम्परा में यह पूर्ण प्रिय हुआ, प्रसिद्धि एवं प्रसार पाया। अन्य सप्रतिभ नैयायिकों ने भी व्युत्पत्ति-लाभ और शास्त्रार्थसभा में विजय के लिए इसको अधिगत करने का प्रयास किया। काशी के विश्रुत न्यायाध्यापक महामहोपाध्याय वामाचरण भट्टाचार्य एवं मैथिल नैयायिकों के मुकुटमणि पण्डित मार्कण्डेय मिश्र के कृतविद्य शिष्य पण्डित कृष्णमाधव झा ने जागदीशी सिद्धान्तलक्षण के गूढ़ार्थतत्त्वालोक की व्याख्या सुबोधिनी नाम से की है जो उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान से 1984 ई. में शङ्कर पुरस्कार से सम्मानित हुई और गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद से प्रकाशित हुई।

गदाधर के साथ बच्चा झा का मतान्तर

यह बात विदित है कि प्रायः दो सौ वर्षों से बंगाल, मिथिला तथा काशी में व्याप्तिवाद में जगदीश तर्कालङ्कार की व्याख्या और हेत्वाभासप्रकरण में गदाधरभट्टाचार्य की व्याख्या को अधिक व्युत्पादक मानकर अध्ययन-अध्यापन में रक्खा गया है। इससे उक्त क्षेत्रों में इन दोनों ही व्याख्याओं का अधिक प्रचार प्रसार होना स्वाभाविक है। बच्चा झा महाशय ने पाठ्य में निर्धारित इन दोनों के ग्रन्थों की विवेचना हेतु अपनी कलम उठायी है। **जागदीशी पञ्चलक्षणी, सिद्धान्तलक्षण, अवच्छेदकत्व निरुक्ति** तथा **व्याप्त्यनुगम** के साथ गदाधरी सामान्यनिरुक्ति तथा सव्यभिचार आदि ग्रन्थों पर आपकी विवेचना उपलब्ध है। इन सबका आपने एक नाम 'तर्कसार' दिया है। सिद्धान्त लक्षण विवेचना के अन्त में आपने लिखा है—

गुरूणामुपदेशेन ग्रन्थार्थानां विवेचनात्।
तर्कसाराभिधग्रन्थे पूर्णः सिद्धान्तसारकः॥

यद्यपि दाक्षिणात्य परम्परा में सम्पूर्ण अनुमान खण्ड, चाहे वह व्याप्तिवाद हो या हेत्वाभास प्रकरण, गदाधर की व्याख्या ही पठन-पाठन में प्रचलित है। इस प्रान्त के विद्वानों की मान्यता है कि गदाधर भटाचार्य जैसा विशद लेखन कम व्याख्याकारों में देखा गया है। तथापि धर्मदत्त (बच्चा) झा जगदीश भट्टाचार्य के पाण्डित्य के अधिक पक्षपाती रहे हैं। इनकी दृष्टि में व्याप्तिवाद प्रकरण में अन्य की अपेक्षा जगदीश का चिन्तन अधिक व्युत्पादक है। एक बार राज दरभंगा द्वारा आयोजित विद्वानों की धौत परीक्षा में सर्वदर्शन परीक्षा देने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

हेतु बैठने की तैयारी में बच्चा झा ने केवल जागदीशी सिद्धान्तलक्षण का अवलोकन किया, उनकी शिष्य मण्डली में ऐसी किंवदन्ती प्रसिद्ध है। व्युत्पत्तिवाद के गूढ़ार्थतत्त्वालोक में भी जगदीश तर्कालङ्कार के प्रति झा महाशय का पक्षपात देखा जाता है। इस ग्रन्थ में 'राजपुरुषः' का शास्त्रार्थ या वाक्यार्थ पण्डितों के बीच बहुत प्रसिद्ध है। विभक्त्यर्थ स्वत्व को प्रकार रूप में शाब्दबोध में भान कराने वाले गदाधर भट्टाचार्य प्रभृति की दृष्टि में 'राज निरूपित स्वत्ववान् पुरुषः' इस तरह का बोध होता है। यही है प्रकारतावाद और इसके समर्थक प्रकारतावादी कहलाते हैं।

नैयायिकों के एक अपर दल की मान्यता है कि स्वत्वरूप विभक्त्यर्थ सम्बन्ध है। उसका संसर्ग के रूप में शाब्दबोध में भान होता है प्रकाररूप में नहीं। यही है संसर्गतावाद और इसके समर्थक जगदीश तर्कालङ्कार आदि ने 'स्वत्व संसर्गकः राजवान् पुरुषः' इस प्रकार का शाब्दबोध माना है।

अभिप्राय यह है कि उक्त स्थल में षष्ठी विभक्त्यर्थ स्वत्वका क्या स्वत्वत्वरूप से शाब्दबोध में भान होता है या संसर्गतया—यही है यहाँ मुख्य विवेच्य। बच्चा झा ने अपनी व्याख्या में गदाधरभट्टाचार्य के अभिप्राय का कहीं तिलमात्र भी अन्यथा प्रदर्शन नहीं किया है सर्वांशतः समर्थन किया है। किन्तु अपना पक्षपात गदाधर के प्रकारतावाद से भिन्न जगदीशतर्कालङ्कार द्वारा अनुमोदित संसर्गतावाद में दिखाया है।

संसर्गतावाद का परिचय

'राजपुरुषः' के शास्त्रार्थ में गदाधर भट्टाचार्य ने यद्यपि नाम का उल्लेख नहीं किया है तथापि युक्तियों से संसर्गतावाद का खण्डन अवश्य किया है, जो वस्तुतः इनके पूर्ववर्ती गौड़ नैयायिक जगदीश तर्कालंकार का मत है। इन्होंने अपनी प्रौढ़ कृति शब्दशक्ति प्रकाशिका में इस मत का उपपादन विशद रूप से किया है। इस मत में 'राजपुरुषः' इस समस्तवाक्य में लुप्त षष्ठी विभक्ति का स्वत्व रूप अर्थ वाच्य नहीं है अपितु संसर्ग की मर्यादा से अर्थात् आकाङ्क्षा से शाब्द बोध में यह भासित होता है। चूँकि स्वत्वरूप संसर्ग का भान संसर्गरूप में होता है अतः यह मत संसर्गतावाद नाम से परिचित है। इस मत में युक्ति यह है कि स्वत्व रूप अर्थ को विभक्ति का वाच्य मानने पर 'दशैते राजमातङ्गास्तस्यैवामी तुरङ्गमाः' इस पद्य में तत्पद से राजा रूप अर्थ का जो परामर्श होता है वह नहीं हो सकेगा। क्योंकि 'राजमातङ्ग' इस समस्त पद घटक राजपद का सम्बन्धी में लक्षणा करने पर राजसम्बन्धी अर्थ होगा अतः उसी का परामर्श होगा न कि राजा का। क्योंकि राजा तो यहाँ राजसम्बन्ध का एकदेश है और नियम है कि वृत्तिज्ञानजन्य मुख्य विशेष्य विषय का ही तत्पद से परामर्श होता है। इस नियम के शिथिल करने पर 'नहि प्रजावतीयं मे त्वं तस्मै देहि कम्बलम्' इस पद्य में 'प्रजावती' पद से अभिप्रेत भ्रातृपत्नी के एकदेश भाई का तत् पद से परामर्श होने लगेगा।[14]। अतः संसर्ग रूप में ही षष्ठी विभक्ति से द्योत्य स्वत्व आदि सम्बन्ध का भान उचित प्रतीत होता है। इस मत में 'राजपुरुषः' इस वाक्य से 'स्वत्वसंसर्गकः राजप्रकारकः राजवान् पुरुषः' ऐसा बोध होता है—अर्थात्

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

स्वत्वसम्बन्धावच्छिन्न राजत्वावच्छिन्न प्रकारता निरूपित आश्रयत्वसम्बन्धावच्छिन्न-पुरुषत्वावच्छिन्न पुरुषविशेष्यक बोध होता है। यहाँ पूर्वपक्ष होता है—शक्तिभ्रम[15] से विभक्ति के स्वत्वादि अर्थ के उपस्थित होने पर स्वत्वप्रकारक बोध ही इस मत में भी मान्य होगा। अब शाब्दबोध की दो सामग्रियाँ माननी होंगी। एक होगी स्वत्वसंसर्गक राजप्रकारक पुरुष विशेष्यक बोध की सामग्री और दूसरी होगी राजनिरूपित स्वत्वप्रकारक पुरुष विशेष्यक बोध की सामग्री। दूसरे प्रकार से भी दो शब्द सामग्रियाँ माननी होंगी : राज्ञः पुरुषः और राजपुरुषः। इन दोनों ही वाक्यों में राज पद का राजस्वत्व में लक्षणा करने पर राजस्वत्व प्रकारक बोध संसर्गता मत में मानना होगा। इस तरह संसर्गतावाद मत में गौरव होता है और प्रकारतावाद मानने पर एक ही प्रकार की शाब्दबोध-सामग्री माननी होगी—अतः लाघव होगा।

इसके उत्तर में कहना है कि शक्तिभ्रम से स्वत्व की वाच्यता मानने पर भी स्वत्व संसर्गक बोध ही मान्य है स्वत्व प्रकारक बोध नहीं। अतः एक ही प्रकार की शाब्द-बोध सामग्री के मानने से उक्त गौरव का परिहार हो जाता है। दूसरा लाघव यह होता है कि इस मत में विभक्ति में शक्ति की कल्पना नहीं करनी पड़ती है, स्वत्व प्रतियोगिक सम्बन्ध भान भी नहीं होता है।[16] अतः संसर्गतावाद युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

अपि च [17] राजपद के राजस्वत्व में लक्षणा मानने पर भी प्रकारतावादी के मत में मान्य राजस्वत्वसम्बन्धप्रकारकबोध संसर्गतावादी के मत में स्वीकार्य नहीं है। अतः सामग्रीद्वय की कल्पना उभय पक्ष में बराबर ही दोषावह है।

जगदीश तर्कालङ्कार ने अपनी उपर्युक्त युक्ति के प्रकाशन से पूर्व ही कहा है[18] कि यदि दो नामार्थों का अभेदातिरिक्त सम्बन्ध से अन्वय होता हो तो ग्रामगत इत्यादि स्थल में कर्मत्व सम्बन्ध से ही ग्राम का गतिरूप अर्थ के साथ अन्वय हो जाएगा ग्रामपद की ग्रामकर्मत्व में लक्षणा मानने की आवश्यकता नहीं होगी। इसी तरह राजपुरुषः में भी लक्षणा नहीं माननी होगी। विग्रह और समास वाक्य में समानार्थकता की रक्षा के लिए उक्त लक्षणा की आवश्यकता होती रही है। विग्रह वाक्य स्थल में कर्मत्व का संसर्ग रूप में भान अन्यथा संभव नहीं है। इस मत का समर्थन न्यायकौस्तुभ में महादेव पुणतामकर ने किया है—यह बात बच्चा झा ने भी कही है।

यदि विग्रह वाक्य में कर्मत्व आदि अर्थ से युक्त द्वितीया आदि विभक्ति का अनुसंधान करके कर्मत्व सम्बन्ध से गमन क्रिया में ग्राम का अन्वय करने पर समास वाक्य की समानार्थकता हो जाती है तो विभक्त्यर्थ को प्रकार मानने की आवश्यकता नहीं है। ग्रामम् इस पद से कर्मत्वधर्मिक शाब्दबोध के अनुरोध से द्वितीया आदि विभक्ति का कर्मत्व आदि अर्थ मान्य है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रकारतावाद का परिचय

उक्त स्थल में षष्ठी विभक्ति का वाच्य अर्थ होता है स्वत्व, उसमें निरूपितत्व सम्बन्ध में राजपदार्थ का अन्वय हाता है और वह राजनिरूपित स्वत्व प्रकारक होकर पुरुषरूप विशेष्य में अन्वित होता है। अतः राजनिरूपित स्वत्ववान् पुरुषः इस तरह का बोध होता है अर्थात् यहाँ शाब्दबोध का स्वरूप इस प्रकार का होता है—निरूपितत्व सम्बन्धावच्छिन्न राजत्वावच्छिन्न प्रकारतानिरूपित स्वत्वत्वावच्छिन्न विशेष्यत्वावच्छिन्न प्रकारता निरूपित आश्रयत्व सम्बन्धावच्छिन्न पुरुषत्वावच्छिन्न विशेष्यताकः बोधः।[19] इस मत में शाब्दबोध में स्वत्व का भान संसर्गरूप से नहीं अपितु स्वत्वत्व रूप से प्रकार विधि से होता है। अतः वह आकांक्षाभास्य नहीं है। इसी हेतु से इसका नाम प्रकारतावाद रक्खा गया है।

उपर्युक्त आपत्ति के उत्तर में इस मतावलम्बी का कहना[20] है कि 'दशैते राजमातङ्गा' आदि पद्य का चूँकि प्रामाण्य सन्दिग्ध या विवादग्रस्त है अतः उसकी अनुपपत्ति का यहाँ कोई अर्थ ही नहीं है। दूसरी बात यह है कि लक्ष्यार्थ घटक विभक्त्यर्थ के विशेषणीभूत अर्थ की भी परामर्शकता का नियम यदि तत् पद में मान लिया जाए तो उक्त आपत्ति का वारण हो जाता है।

प्रकारतावाद के समर्थन में गदाधर की युक्ति

संसर्गतावाद[21] पक्ष के मानने पर 'पुरुषो न राज्ञः' इस वाक्य से पुरुष में राजस्वत्व के अभाव का अभीप्सित बोध नहीं होगा प्रत्युत स्वत्वसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक राजा के अभाव का बोध होने लगेगा। किन्तु स्वत्वादि सम्बन्ध वृत्ति का अनियामक होता है अर्थात् आधाराधेयभाव का नियामक नहीं होता है अतः वह किसी प्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं हो सकता है। और उसके, अर्थात् प्रतियोगितावच्छेदकता के अभाव में उक्त (स्वत्व) सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिता का अभाव भी अप्रसिद्ध हो जाएगा। नियम है कि जिस सम्बन्ध से भाव रूप में प्रतियोगी का प्रत्यक्ष होता है वही सम्बन्ध प्रतियोगितावच्छेदक होता है। कुण्डल का स्वामी होने पर देवदत्त ने जब कुण्डल नहीं पहन रक्खा है तब कुण्डली देवदत्त का प्रत्यक्ष नहीं होता है। अतः वृत्ति के अनियामक सम्बन्ध को प्रतियोगितावच्छेदक नहीं माना जा सकता है।[22] अवधेय है कि प्रतियोगिता के अवच्छेदक दो होते हैं—धर्म और सम्बन्ध। यहाँ सम्बन्ध उक्त पद से अभिप्रेत है। अभिप्राय यह है कि जिस सम्बन्ध से जो पदार्थ जहाँ रहता है उस सम्बन्ध से उस पदार्थ का अभाव भी वहाँ नञ् के रहने से समझा जाता है। समवाय, स्वरूप, कालिक तथा दैशिक विशेषणता, आश्रयता एवं संयोग आदि सम्बन्ध इस प्रकार के होते हैं अतः उन्हें वृत्ति नियामक सम्बन्ध के रूप में माना जाता है। चूँकि स्वत्व सम्बन्ध से पुरुष में राजा की स्थिति कदापि मान्य नहीं है अतः वृत्तिनियामकता इसमें नहीं सम्भव है। आधराधेयभाव के आधारपर सम्बन्ध में वृत्तिनियामकता मानी जाती है जो यहाँ नहीं है। अब चूँकि यह वृत्यनियामक सम्बन्ध है अतः यह प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध नहीं हो सकता है और तब इस सम्बन्ध के कारण उपर्युक्त स्थल में प्रदर्शित अनुपपत्ति विद्यमान ही रहेगी। इस सम्बन्ध से किसी भी प्रतियोगी का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अभाव प्रसिद्ध नहीं होगा। अतः उक्त स्थल में प्रकार विधि से ही स्वत्व का बोध मानना सङ्गत प्रतीत होता है संसर्ग विधि से नहीं। चूँकि उपस्थित पदार्थ का ही प्रकार विधि से बोध संभव है अतः इस स्वत्व को षष्ठी विभक्ति का वाच्य मानना भी आवश्यक है।[23]

वृत्ति के अनियामक सम्बन्ध के प्रतियोगितावच्छेदक मानने पर भी प्रकारतावाद ही युक्तिसङ्गत है संसर्गतावाद नहीं

गदाधर भट्टाचार्य ने आगे कहा है कि वृत्ति के अनियामक सम्बन्ध को प्रतियोगितावच्छेदक मानने पर स्वत्वरूप षष्ठी विभक्त्यर्थ का प्रकारता रूप में ही शाब्दबोध में भान[24] उचित है संसर्गता रूप में नहीं। इसकी व्याख्या के समय बच्चा झा महाशय ने पहले वृत्ति के अनियामक सम्बन्ध को प्रतियोगितावच्छेदक मानने में युक्ति का प्रदर्शन किया है और पश्चात् इस पक्ष का समर्थन किया है। राज्ञः पुरुषः, दण्डाद् घटः आदि वाक्यों की तरह आकाशस्य न कालः तथा गगनं न पारिमाण्डल्यात् आदि वाक्य भी प्रामाणिक माने गये हैं। यहाँ वृत्ति के अनियामक सम्बन्ध को प्रतियोगितावच्छेदक नहीं मानने पर निरूपितत्व सम्बन्धावच्छिन्न आकाशाभाव के अप्रसिद्ध होने से उक्त अभाव से युक्त स्वत्वाभाववान् काल का बोध नहीं होगा। इसी तरह अणु परिमाण रूप पारिमाण्डल्यनिष्ठ जनकता अप्रसिद्ध है, अतः तन्निरूपित (पारिमाण्डल्यनिष्ठ जनकता निरूपित) जन्यता के अभाव का बोध भी अप्रसिद्ध होगा। अब निरूपितत्व सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक पारिमाण्डल्याभाववत् कार्यत्वाभाववत् गगनम् यह बोध नहीं होगा। इस बोधाभाव से उन वाक्यों का प्रामाण्य सन्दिग्ध हो जायेगा। अतः उन वाक्यों के प्रामाण्य की उपपत्ति हेतु इन बोधों को मानना होगा और इन बोधों की उपपत्ति हेतु वृत्ति के अनियामक सम्बन्ध को प्रतियोगितावच्छेदक मानना होगा। राज्ञः पुरुषः इस स्थल में भी वृत्त्यनियामक सम्बन्ध स्वत्व के प्रतियोगितावच्छेदक होने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। अब संसर्गतावाद में जो आपत्ति दिखाई गयी है वह आपत्ति निर्मूल सिद्ध होती है। स्वयं गदाधर भट्टाचार्य ने भी व्युत्पत्तिवाद के द्वितीया कारक प्रकरण में द्रव्यं गच्छति नाभावम् इत्यादि वाक्य की उपपत्ति हेतु वृत्ति के अनियामक सम्बन्ध के प्रतियोगितावच्छेदक होने में युक्ति प्रदर्शित की है।

आगे झा महाशय ने इसकी पुष्टि में कहा है कि वृत्ति के नियामक सम्बन्ध की तरह वृत्ति के अनियामक सम्बन्ध से भी अभियुक्तों को वस्तु की सत्ता का निषेध प्रतीत होता है तो पुनः उसको नहीं मानने का कोई प्रश्न ही नहीं। यदि वैसा प्रतीत नहीं होता तो सौ प्रमाणों के प्रदर्शन से भी वह उपपन्न नहीं हो सकता है। प्रतीति का साक्षी अनुभव ही होता है। केवल शास्त्र से उसकी उपपत्ति संभव[24] नहीं है। अवधेय है कि तात्पर्य टीका में वाचस्पति मिश्र ने बहुत पहले यही बात कही है—संविदेव हि भगवती वस्तूपगमे नः शरणम्'। अर्थात् अनुभव ही वस्तु की प्रतीति का आधार होता है। अभिप्राय यह है कि वृत्ति के अनियामक स्वत्व सम्बन्ध को प्रतियोगितावच्छेदक मान लेने पर 'पुरुषो न राज्ञः' इस वाक्य के शाब्दबोध में संसर्गतावाद पक्ष में अनुपपत्ति नहीं होती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इसके उत्तर में प्रकारतावादी का कहना है कि यह सर्वमान्य सिद्ध है कि विभिन्न विषयक प्रत्यक्ष के प्रति शाब्दबोध की सामग्री प्रतिबन्धिका होती है। और विषयों के एक होने पर ही बाध्यबाधकभाव होता है विषयभेद होने पर नहीं, यह भी देखा गया है। अत एव बाधक के अभाव को योग्यता माना गया है। राज्ञः पुरुषः, राजस्वत्वाभाववान् पुरुषः सुन्दरः इन ज्ञानयुगलों में परस्पर विषयता भिन्न है। अतः प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव संभव है किन्तु बाध्यबाधकभाव नहीं, राजस्वत्वाभावविशिष्ट पुरुष में सुन्दरत्व का वैशिष्ट्य है, अतः यह विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही प्रत्यक्ष सामग्री रहने पर हो सकता है। किन्तु इस प्रत्यक्ष के लिए स्वत्व सम्बन्धेन राजवान् पुरुषः इस शाब्दबोध की सामग्री को उक्त प्रत्यय का प्रतिबन्धक मानना होगा—यही गौरव होगा।

प्रकारतावाद पक्ष में राज्ञः पुरुषः इस वाक्य की शाब्दबोध सामग्री राजस्वत्वाभाववान् पुरुषः इस बाध ज्ञान के अभाव से युक्त ही है, अतः कारण के अभाव में ही उक्त प्रत्यक्ष यहाँ नहीं होगा। इस पक्ष में प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव की कल्पना नहीं करनी होगी[26]—यही लाघव होगा। यहाँ गदाधर भट्टाचार्य का यही अभिप्राय है। मूल व्युत्पत्तिवाद में संसर्गतावाद को पूर्वपक्ष में और प्रकारतावाद को उत्तर पक्ष में रखकर इस प्रकार लाघव-गौरव का विचार करते हुए गदाधर भट्टाचार्य ने अनेक कोटियाँ प्रस्तुत की हैं। बच्चा झा ने मूल लेखक के आशय के प्रकाशन में सर्वत्र अपनी व्याख्या में वैशद्य का प्रदर्शन किया है तथा यथावत् इस मत का उपपादन किया है। किन्तु इनकी व्याख्या मूल पंक्ति के अभिप्राय प्रकाशन में ही सीमित नहीं है अपितु स्वमत विचार भी प्रसङ्ग आने पर यहाँ प्रस्तुत हुआ है, जिससे शास्त्रार्थ आगे बढ़ता गया है सम्प्रदाय की रक्षा हुई है। अतएव गाम्भीर्य और परिणाह दोनों ही दृष्टियों से इस व्याख्या का महत्त्व आकलनीय है। पहले ही मैंने कहा है कि बच्चा झा पर जगदीश भट्टाचार्य के चिन्तन का प्रभाव अधिक है, अतः यहाँ इन्होंने संसर्गतावाद में अपना स्वारस्य प्रदर्शित किया है। इन्होंने कहा है कि अत्र केचित् (पृ. 70) इत्यादि सन्दर्भ उठाकर गदाधर भट्टाचार्य ने संसर्गतावाद में जो गौरव प्रदर्शित किया है वह निपुणता से आलोचन करने पर विपरीत ही प्रतीत होता है। घट आदि विभिन्न विषयक प्रत्यक्ष के प्रति शाब्द सामग्री को प्रतिबन्धक मानने पर प्रकारतावाद पक्ष में दो प्रकार के बाध, निश्चयाभाव, स्वत्वोपस्थिति, राजोपस्थिति, पुरुषोपस्थिति, योग्यताज्ञान, आकाङ्क्षाज्ञान तथा तात्पर्यज्ञान इन आठ कारणों का सामग्री में प्रवेश होता है। संसर्गतावाद पक्ष में एक प्रकार का बाधनिश्चायभाव, राजोपस्थिति, पुरुषोपस्थिति तथा योग्यता आदि का ज्ञानत्रय-इन छह कारणों का सामग्री में प्रवेश होता है। सामग्री कारण-कूट (समूह) रूप होती है और कूट (समूह) एक विशिष्ट अपरत्वरूप माना गया है। अब आठ कारणों के समूह में विशेष्य विशेषणभाव मानने पर विनिगमनाविरह से प्रकारतावादपक्ष में चालीस हज़ार तीन सौ बीस प्रतिबन्धकताएँ माननी होंगी और संसर्गतावाद पक्ष में सात सौ बीस प्रतिबन्धकताएँ मान्य होंगी। द्विविधबाधघटित भिन्न दो विषयों के दो प्रत्यक्षों में संसर्गतामत में चौदह सौ चालीस प्रतिबन्धकताएँ होती हैं और एकविधबाध घटित भिन्न विषयक एक प्रत्यक्ष में प्रकारतामत

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

में चालीस हजार तीन सौ बीस प्रतिबन्धकताएँ माननी होंगी। अब प्रकारतावाद पक्ष में प्रतिबन्धकता का कितना आधिक्य है—यह स्वयं विद्वान् विचार कर सकते हैं।[27]

अवधेय है कि प्रकारतावाद लाघव-गौरव के विचार की भित्ति पर निर्भर है और बच्चा झा महाशय ने इसी बल पर संसर्गतावाद का समर्थन किया है। यद्यपि बच्चा झा के समसामयिक मैथिल महामहोपाध्याय जयदेव मिश्र ने व्युत्पत्तिवाद की **जया** नामक व्याख्या का प्रणयन किया है। पठन-पाठन में निरन्तर रहती हुई यह व्याख्या पूर्ण प्रतिष्ठित है। इसमें व्याख्याकार मिश्र महाशय ने गदाधर भट्टाचार्य के मत का अर्थात् प्रकारतावाद का समर्थन किया है और युक्ति के रूप में लाघव-गौरव विचार का ही आश्रय लिया है। इनका कहना है कि राजनिरूपित स्वत्व के अभाव का समानाधिकारण्य अत्यन्ताभावीय प्रतियोगितावच्छेदक धर्म की अपेक्षा स्वत्वसम्बन्धावच्छिन्न राजत्वधर्माभावीय प्रतियोगितावच्छेदक धर्म ही गुरु शरीरी होने से गौरवाधायक[28] है। इसी के सातत्य में इन्होंने आगे कहा है कि संसर्गतावादी के मत में प्रतिबध्य प्रतिबन्धकभाव की अतिरिक्त कल्पना तथा व्याप्यलक्षण के प्रतियोगितावच्छेदक रूप गुरुधर्म का स्वीकार स्वरूप गौरव सदा विद्यमान ही रहता है अतः इसका अधिक पल्लवन व्यर्थ है।[29]

तथापि **गूढ़ार्थतत्त्वालोक** के सम्बद्ध अंश के अध्ययन से ज्ञात होता है कि बच्चा झा महाशय ने अपनी प्रतिभा प्रसूत कल्पना के बल पर ही सभी युक्तियों को पूर्वपक्ष रूप में प्रस्तुत कर **गूढ़ार्थतत्त्वालोक** में समाधान कर दिया है, जिन युक्तियों के बल पर **जया** में प्रकारतावाद का समर्थन किया गया है।

जया व्याख्याकार म.म. जयदेव मिश्र के शिष्य वेणीमाधव शुक्ल ने व्युत्पत्तिवाद की **शास्त्रार्थकला** व्याख्या लिखी है। इस में इन्होंने बच्चा झा महाशय के संसर्गतावाद पक्ष-समर्थक अभिप्राय का विशद रूप से अंकन कर इस में अपना अस्वारस्य प्रदर्शित किया है। व्याख्येय ग्रन्थ की उक्त सार व्याख्या का प्रणयन व्याख्याता का प्रथम कर्त्तव्य होता है जिसका परिचय इन दोनों ही व्याख्याकारों ने (गुरु तथा शिष्य मिश्र एवं शुक्ल ने) दिया है।

गुरु (म.म. मिश्र ने) बच्चा झा की युक्तियों का गजनिमीलन किया है और शिष्य (पण्डित शुक्ल ने) रास्ता ही बदल दिया है। तात्पर्य यह है कि म.म. मिश्र ने बच्चा झा के चिन्तन की ओर व्याख्या के समय ध्यान ही नहीं दिया और पण्डित शुक्ल ने प्रस्तुत लाघव-गौरव के विचार में अपनी असमर्थता को आवरण देते हुए कहा है कि संसर्गतावाद पक्ष में राज्ञः पुरुषः इस स्थल में शेषत्व के अभाव में षष्ठी विभक्ति की उपपत्ति ही नहीं होती है। अतः उपस्थिति आदि में गौरव रहने पर भी प्रकारतावाद पक्ष ही उचित है जिससे उक्त स्थल में षष्ठी विभक्ति की उपपत्ति होती[30] है। दूसरी बात यह है कि 'दशैते राजमातङ्गास्तस्यैवामी तुरङ्गमाः' इस पद्य को अप्रामाणिक अथवा विवादग्रस्त मानकर उक्त पद्य में प्रकारतावाद पक्ष के स्वीकार करने पर जो अनुपपत्ति होती है उसका प्रतीकार नहीं करना ही इस पक्ष की दुर्बलता मानी जा सकती है। अतः बच्चा झा का संसर्गतावाद पक्ष का समर्थन अपना स्वतन्त्र महत्त्व रखता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

व्युत्पत्तिवाद के अपर व्याख्याकार तथा सर्वतन्त्र स्वतन्त्र बच्चा झा के साक्षात् शिष्य पण्डित लक्ष्मीनाथ झा ने अपनी प्रकाश व्याख्या में गूढ़ार्थतत्त्वालोक का पूर्णतः समर्थन किया है।

संदर्भ

1. तत्र मीमांसा वाक्यार्थविचारात्मिका न्यायश्च तदुपोद्बलकयुक्तिपरिशीलनात्मक इति विवेकः। अत्रैव च सर्वेषां दर्शनशास्त्राणमनुप्रवेशः तत्त्वबुभुत्सा प्रेरितमेव दर्शनशास्त्रम्। तत्र च बहवः प्रतिपाद्याः विषयाः अतीन्द्रिया इत्यतः सर्वत्र स्वयंसिद्धप्रामाण्यानां वाक्यानामुपयोगं विना ज्ञानं दुश्शकमतोऽतीव प्रयोजिका वाक्यार्थविचारात्मिका मीमांसा। प्रामाणिकोऽपि विषयः केवलशब्दप्रमाणसिद्धस्तादृशीं विश्वासभूमिं नाधिरोहति यादृश्या कल्याणसिद्धिः स्यात्। अतएव भवति प्रयोजनं युक्त्यात्मकस्य न्यायस्य। (पृ. 4, भूमिका — न्यायभाष्य खद्योत, पूना संस्करण 1939 ई.)
2. अन्वीक्षानयमाकलय्य गुरुणा ज्ञात्वा गुरूणां मतं
चिन्तादिव्यविलोचनेन च तयोः सारं विविच्याखिलम्।
तन्त्रे दोषगणेन दुर्गमतरे सिद्धान्तदीक्षागुरु-
र्गङ्गेशस्तनुते मितेन वचसा श्रीतत्त्वचिन्तामणिम्॥
3. वंशे जातः कलुषरहिते कर्ममीमांसकानाम्
आन्वीक्षिक्यां गुरुकरुणया लब्धतत्त्वावबोधः।
4. व्युत्पत्तिवाद, पृ. 58, (गूढ़ार्थतत्त्वालोक, चौखम्बा संस्करण 1986 ई.)
5. तदेव
6. ननु नामार्थयोः साक्षाद् भेदेनानन्वयनियमस्य राज्ञः पुरुष इत्यादौ सम्बन्धाद्यर्थानुशिष्टषष्ठयाद्युपस्थापितसम्बन्धादिकमन्तराकृत्यान्वयेन निबहिऽपि समासस्थले विभक्तेरभावेन सम्बन्धादेस्तदर्थत्वाभावात् सम्बन्धिलक्षणायां समासविग्रहवाक्ययोः समानाकारकबोधजनकत्वनियमभंगप्रसङ्गात्। (व्युत्पत्तिवाद, पृ. 59)
7. राजपुरुषः इत्यादि समासस्थले तु पुरुषादिपदार्थेन समं राजादिपदार्थस्य न भेदान्वयबोधः किन्तु तेन समं विभक्त्यन्तार्थविशिष्टलाक्षणिक राजादिपदोस्थाप्य राजसम्बन्ध्यादेरभेदान्वयबोध एवेति न दोषः। (व्युत्पत्तिवाद, पृ. 59)
8. द्रष्टव्य टिप्पणी 6 तथा उसी के सातत्य में निम्न पंक्तियाँ — तत्पुरुषकर्मधारयसमासयोः परस्परविविक्तरूपत्वासम्भवाच्च सम्बन्धलक्षणैवाभ्युपगन्तव्या। अभ्युपगता च चिन्तामणिकारादिभिरिति नामार्थस्यैव च तद् भेदसम्बन्धेन पुरुषादावन्वयात् उक्तनियमे व्यभिचारः।
9. तत्पुरुषे राजपुरुष इत्यादौ पूर्वपदस्य षष्ठ्यर्थसम्बन्धे निरुढलक्षणयैव राजसम्बन्धिपुरुष बुद्ध्युपपत्तेः न समासे शक्तिः। अनन्यलभ्यस्य शब्दार्थत्वात्। तत्त्वचिन्तामणि, पृ. 259 साहा, एडीसन, 1991 ई. यादवपुर विश्वविद्यालय प्रकाशन।
10. न चोक्तनियमाभावे विभक्तेरपि वृत्तिकल्पनं व्यर्थम्। राजा पुरुष इत्यादावपि भेदान्वयापत्तिश्चेति वाच्यम् तत्साधकयुक्तीनामत्रैव वक्ष्यमाणत्वात्। विभक्तिद्योतकतामतवदाकाङ्क्षावैचित्र्यकल्पनयोक्ता- पत्तेर्वारणीयत्वाच्चेत्यत आह—राजपुरुष इत्यादि समासस्थले इति (मूल पृ. 59) गूढ़ार्थतत्त्वालोक।
11. अयमभिप्रायः। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां गृहीतस्य नियमस्यासमाधेयशङ्कयैव न परित्याज्यत्वमन्यथा वैजात्यकल्पनया समाहितशंकस्य वह्नितृणमण्यादिकार्यकारणभावस्यापि परित्यागः स्यादिति वक्ष्यमाणयुक्त्या विभक्तीनां तत्तदर्थवाचकत्वेऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां गृहीतस्य नियमस्य समासस्थले व्यभिशङ्कायाचाः सम्बन्धिलक्षणाकल्पनया समाधातुं शक्यतया न परित्यागः। न च विग्रहसमासवाक्ययोः समानाकारकानुभव-

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

जनकत्वनियमभंगप्रसङ्गात् उक्तकल्पनैव न सम्भवतीति वाच्यम् तादृशनियमे मानाभावात्। उक्त जनकत्वानुभवस्य सविवादत्वेनोक्तकल्पना परिपन्थित्वाभावात्। सामान्यनियमस्य बहुव्रीहौ व्यभिचारात् तदन्यत्वस्यैव तत्पुरुषविशेषाद्यन्यत्वस्य प्रवेशेऽपि क्षत्यभावाच्च। विभक्तेर्वाचकत्वे सम्बन्धिलक्षणापक्षस्यैव प्रबलत्वमितरथसमासविग्रहवाक्ययोर्भेदसम्बन्धेनान्वयबोधजनकत्वपक्षस्येति पक्षद्वयमेव यथामतिपरिगृह्य पराक्रान्तं सूरिभिः।

12. गदाधरभट्टाचार्य ने स्पष्ट रूप से षष्ठ्यादि विभक्ति को वाचक माना है। राज्ञः पुरुष इत्यादौ षष्ठ्यादेः स्वत्वादिवाचकत्वमावश्यकम्। (व्युत्पत्तिवादमूल, 75 पृ. गूढ़ार्थतत्त्वालोक संस्करण, कीर्त्यानन्द झा सम्पादन)

13. न च तृतीयं सम्बन्धलक्षणापक्षम्। चिन्तामण्यादीनामाकरत्वेन समीचीनासमीचीनानां पक्षाणां रत्नाकर इव रत्नारत्नानां सद्भावो न दुष्यति। अथ सम्बन्धिलक्षणायां स्वघटकपदार्थयोरभेदान्वयबोधकसमासत्वरूप कर्मधारयत्वस्य तत्पुरुषेऽतिव्याप्तिरुक्तकल्पनापरिपन्थिनी तदवस्थेति चेत् विभक्तेर्द्योतकत्ववादिनामेव तत्कर्मधारयलक्षणं तेषां कर्मधारयातिरिक्तसमासस्थले सर्वत्र भेदसम्बन्धेनैवान्वयात्। अत एव वक्ष्यति भवन्मते कर्मधारय इति मूले, पृ. 59, गूढ़ार्थतत्त्वालोक

सम्बन्धिलक्षणापक्षे किं तल्लक्षणम्? समासघटकतत्तत्पदाव्यवहितोत्तरप्रसक्तविभक्त्यदर्शन विधायकशास्त्र-स्मारितविभक्तिमत्स्वघटकपदसजातीयपदघटितवाक्यात्मकविग्रहवाक्याद् यत्राभेदान्वय- बोधस्तत्र कर्मधारयो यत्र विभक्त्यर्थमन्तराकृत्य भेदान्वयबोधस्तत्र तत्पुरुषादिरिति लक्षणम् (पृ. 59, गूढ़ार्थतत्त्वालोक)

यत्र समासघटकपदार्थस्य विशेष्यत्वे सति तद्घटकीभूतपदानां स्वोत्तरमुत्पत्तियोग्यविभक्त्यर्थवदन्तर्भावेन लक्षणां विना सामानाधिकरण्यं तत्र कर्मधारयत्वम् तादृशलक्षणया सामानाधिकरण्ये तत्पुरुषत्वमिति लक्षण-मुक्तमत्स्त्वभियुक्तैरिति। सम्बन्धिलक्षणापक्षेऽपि न तदसंभव इति। एतल्लक्षणमभिप्रेत्यैव वक्ष्यति— यदस्मन्मतेऽसौ समासः षष्ठीतत्पुरुष इति। पृ. 60 गूढ़ार्थतत्त्वालोक।

14. उक्तरीत्यैव वारणसम्भवात् इस प्रतीक को उठाकर झा महाभाग ने कहा है इदं च विभक्त्यर्थसंसर्गतावादिनां नव्यानां मतं तदेव चानुमोदितं शब्दशक्ति प्रकाशिकायां मीमांसान्याय कोस्तुभे च। उक्तं च नहि प्रजावतीयं मे त्वं तस्मै देहि कम्बलमित्यादौ प्रजावतीशब्दार्थभ्रातृजायाद्येकदेशभ्रात्रादेस्तदा परामर्शवारणाय तदादेर्वृत्ति ग्रहमुख्यविशेष्यपरामर्शताव्युत्पत्तिरङ्गीकरणीया। तथा च 'दशैते राजमातङ्गास्तस्यैवामी तुरङ्गस्ये। चैत्रो ग्रामंगतस्तत्र मैत्रः किं कुरुतेऽधुना इत्यादौ राजादिपदस्य राजसम्बन्ध्यादिलाक्षणिकत्वे तच्च्व राजादि परामर्शो न स्यादतो विभक्त्यर्थस्य संसर्गत्वमेवोचितम्। व्युत्पत्तिवाद गूढ़ार्थ तत्त्वालोक, पृ. 74

नचेदेवं—दशैते राजमातङ्गास्तस्यैवामी तुरङ्गमाः।

इत्यादौ राजसम्बन्धादे राजादिपदलक्षकत्वे तदेकदेशस्य राजादेस्तदा परामर्शो न स्यात्। विशेष्यविधया वृत्या पूर्वोपस्थापितस्यैवार्थस्य परामर्शकत्वात्त दादिशब्दानाम्।

न हि प्रजावतीयं मे त्वं तस्मै देहि कम्बलम्।

नीलो मणिः गणः सोऽत्र भ्रात्रादिर्बोध्यते तदा॥ इति शब्दशक्ति प्रकाशिका, पृ. 233, चौखम्बा संस्करण, 1973 ई.

तत्पुरुषे द्वितीयाद्यर्थस्य सम्बन्धविधया भानं यदि न तदा इति कृष्णाकान्त विद्यावागीश कृतात्र व्याख्या।

15. अथ विभक्त्यर्थस्य संसर्गतापक्षो न युक्तः विभक्त्या शक्तिभ्रमेण स्वत्वाद्युपस्थितौ स्वत्वप्रकारकबोधस्य संसर्गतामतेऽपि स्वीकरणीयतया द्विविधशाब्दसामग्र्याः कल्पनीयतया गौरवात्।

विभक्त्यर्थप्रकारतामते च स्वत्वादि संसर्गकबोधस्य कुत्राप्यक्लृप्तत्वेन शाब्दसामग्र्या एकविधत्वात्। किञ्च राज्ञः पुरुषः इत्यादौ राजपुरुष इत्यादौ च राजपदस्य राजस्वत्वे लक्षणायां राजस्वत्वप्रकारकबोधस्य संसर्गतामते स्वीकरणीयतया द्विविधशाब्दसामग्रीकल्पनेन गौरवम्।

16. विभक्त्या स्वत्वोपस्थितावपि स्वत्वसंसर्गकबोध एवाभ्युपेयः। शक्त्यकल्पन स्वत्वादि प्रतियोगिक सम्बन्धभानाद्यभावप्रयुक्तलाघवस्य सद्भावात्। तादात्म्यसंसर्गताविचारे हि प्रथमया तादात्म्योपस्थितौ

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सत्यामपि तत्संसर्गकबोध एवाभ्युपेतो ग्रन्थकृतेति न संसर्गतामते गौरवम्। व्युत्पत्तिवाद गूढ़ार्थ तत्त्वालोक, पृ. 74

17. राजपदस्य राजस्वत्वे लक्षणायां प्रकारतामते स्वीकृतस्य राजस्वत्वसम्बन्धप्रकारकबोधस्य संसर्गतामतेऽनभ्युपगम्यत्वेन सामग्रीद्वयस्य तुल्यत्वात्।

18. ननु यदि नामार्थयोरपि भेदेनान्वयः व्युत्पन्नस्तर्हि ग्रामगत इत्यादौ कर्मत्वादिसंसर्गेण ग्रामादेरेव गत्यादावन्वयोऽस्तु, कृतं ग्रामादिशब्दस्य ग्रामकर्मत्वादिलक्षणयेति चेत्सत्यम्। विग्रहवाक्यानां समासस्मानार्थकत्वरक्षणाय तत्र लक्षणास्वीकारात्। मास्तु वा ग्रामादिपदस्य तत्कर्मत्वादौ लक्षणा। कर्मत्वादि संसर्गेणैव ग्रामादेर्गत्यादावन्वयसम्भवात् तथापि न क्षतिः। ग्रामं गत इत्यादि विग्रहस्यापि कर्मत्वार्थकद्वितीयाद्यनुसन्धानवशादेव कर्मत्वादिसंसर्गेण गत्यादौ ग्रामाद्यन्वयबोधकतया समाससमानार्थकत्वसम्भवात्। ग्राममित्यादौ कर्मत्वादिधर्मिकान्वयबोधानुरोधे न द्वितीयादेः कर्मत्वाद्यर्थकत्वात् (शब्दशक्तिप्रकाशिका, पृ. 231, वही संस्करण)

19. राज्ञः पुरुष इत्यादौऽतु नामार्थपुरुषेण राजपदार्थस्य न साक्षादन्वयः। अपि तु राजपदार्थस्य निरूपितत्व सम्बन्धेन विशेष्यभूतपुरुषेऽन्वयः।
(व्युत्पत्तिवाद की शास्त्रार्थकला व्याख्या, पृ. 145)

20. उक्त पद्यानां प्रामाण्यस्य सविवादतयाऽकिञ्चित्करतां समासस्थले तत्पदस्य लक्ष्यार्थघटकविभक्त्यर्थविशेषणीभवदर्थपरामर्शकता व्युत्पत्यन्तरं वा मनसि निधाय प्रकारतापक्षं परिष्कर्तुमुपक्रमते मैवमित्यादिनेति। (गूढ़ार्थतत्त्वालोक, पृ. 75)
मैवम्। राज्ञः पुरुष इत्यादौ षष्ठ्यादेः स्वत्वादिवाचकत्वमावश्यकम्।
(व्युत्पत्तिवाद, पृ. 75)
अथ पूर्वग्रन्थपर्यालोचनया स्वत्वादीनां सम्बन्धत्वे वाच्यता प्रतीयते उत्तर ग्रन्थपर्यालोचनया स्वत्वत्वादिनेति भवति विमर्शः किं स्वत्वत्वेन वाच्यतोत सम्बन्धत्वेनेति। (गूढ़ार्थतत्त्वालोक, पृ. 75)

21. नहि तत्र स्वत्वादिसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकराजाद्यभाव एव प्रतीयते न तु राजस्वत्वाद्यभाव इति सम्भवति स्वत्वादिसम्बन्धस्य वृत्यनियामकतया प्रतियोगितानवच्छेकत्वेन तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावाप्रसिद्धेः। (व्युत्पत्तिवाद मूल, पृ. 75)

22. यत्सम्बन्धेन प्रतियोगिनः सत्त्वेन प्रत्यक्षमापादयितुं शक्यते तस्यैव प्रतियोगितावच्छेदकत्वात्। कुण्डलादि स्वामिन्यपि कुण्डलासंयुक्ते कुण्डली देवदत्त इत्यादि प्रत्यक्षानुदयात् वृत्त्यनियामकस्य न प्रतियोगितावच्छदेकत्व मिति (गू.त., पृ. 75)

23. राज्ञः पुरुषः इत्यादौ षष्ठ्यादेः स्वत्वादिवाचकत्वमावश्यकम्। अन्यथा पुरुषो न राज्ञ इत्यादौ पुरुषे राजस्वत्वाद्यभावबोधानुपपत्तेः। व्युत्पत्तिवाद, पृ. 75

24. वृत्यनियामक सम्बन्धस्याभावप्रतियोगितावच्छेकत्वेऽपि राज्ञः पुरुष इत्यादौ राजस्वत्वादेः प्रकारताभ्युपगमः समुचितः। (व्युत्पत्तिवाद पृ. 76)

25. अयमभिप्रायः। यथा राज्ञः पुरुषो तथा आकाशस्य न कालः यथा दण्डाद् घटः तथा न गगनं पारिमाण्डल्यात् इत्यादिवाक्यानां प्रामाणिकत्वेऽवश्यमभ्युपेयो वृत्त्यनियामकः प्रतियोगितावच्छेकतया, अन्यथा प्रामाण्यासम्भवात् तथा च सति निरूपितत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाकाशाभाववत् स्वत्वाभाववान् कालः, निरूपितत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकपारिमण्डल्याभाववत् कार्यत्वाभाववद् गगनमित्यादि बोधाभ्युपगमेन तत्सम्भवात्। स्वयमपि वक्ष्यति द्वितीयाव्युत्पत्तिवादे वृत्त्यनियामकस्य प्रतियोगितावच्छेदकत्वयुक्तिम्।
किमत्र वक्तव्यम् वृत्त्यनियामकस्य प्रतियोगितावच्छेदकत्वे यदि चेत् वृत्तिनियामकसम्बन्धेनेव वृत्यनियामकेनापि वस्तुसत्तानिषेधोऽभियुक्तानामनुभवपथारूढः स्यादेव तत्। न स्याच्चेदलं प्रमाणशतोपन्यासेनापि तस्य शास्त्रैकमात्रसमधिगम्यत्वाभावात्। (गूढ़ार्थ तत्त्वालोक, पृ. 77)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

26. अन्यथा तादृशसमभिव्याहारज्ञानघटितशाब्दसामग्रीकाले राजस्वत्वाभावान् पुरुषः सुन्दरः इत्याकारकविशिष्ट वैशिष्ट्यावगाहिप्रत्यक्ष वारणाय तत्र तादृशसामग्र्याः राजस्वत्वाभाववान् पुरुषः इत्यादि बाध भावघटिततया तत्सत्त्वे विशेषतावच्छेदकादिप्रकारकनिश्चयरूप कारण विरहादेव तथाविध विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिप्रत्यक्षोत्पत्यसम्भवेन तादृशसामग्र्यास्तत्र प्रतिबन्धकत्वस्याकल्पनात्। (व्युत्पत्तिवाद, पृ. 76-77)
निरूपितत्व सम्बन्ध से राजाभावत् स्वत्व का अभाव तथा आश्रयता राजस्वत्वाभाववान् पुरुषः इस बाध का अभाव।

27. किञ्चात्र केचिदित्यादिना (मूल पृ. 70) यदुक्तं संसर्गतामते गौरवं निपुणतलोचने विपरीतमेव तदवभासते। तथा हि घटादि भिन्न-भिन्न विषयक प्रत्यक्षं प्रति शाब्दसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वे प्रकारतामते बाधनिर्णयाभावद्वय स्वत्वोपस्थिति राजोपस्थिति पुरुषोपस्थितियोग्यताकाङ्क्षातात्पर्यज्ञान त्रयेत्यष्टकारणानां सामग्र्याँ प्रवेशः। संसर्गतामते चैकविधबाधनिश्चयाभाव राजोपस्थितिपुरुषोपस्थितियोग्यताकाङ्क्षातात्पर्यज्ञानत्रयेति षट् कारणात प्रवेशः। तत्र सामग्रीत्वस्य कारणकूटत्वरूपत्वात् कूटत्वस्य चैकविशिष्टापरत्व रूपत्वात् कारणाष्टकस्य विशेष्यविशेषणभावे विनिगमनाविरहे प्रकारताम एकत्रैव प्रायः सविंशतिशतत्रयाधिक चतुरयुतप्रतिबन्धकत्वमापद्यते। संसर्गतामते विंशत्यधिक सप्तशतप्रतिबन्धकत्वं द्विविधबाधघटितभिन्न विषयद्वय प्रत्यक्षद्वय संसर्गतामते च चत्वारिंशदधिकः चतुर्दशशतप्रतिबन्धकत्वमेकविधबाधघटितभिन्न विषयकैकप्रत्यक्षं प्रति प्रकारतामते सविंशतिशतत्रयाधिक चतुरयुतप्रतिबन्धकत्व कियदाधिक्यं प्रतिबन्धकत्वस्य प्रकारतामते इति सुधीभिरालोचनीयम्। (गूढ़ार्थ तत्त्वालोक, पृ. 82)
स्वत्वसम्बन्ध से राजाभाववान् पुरुष रूपबाधक अभाव।

28. राजनिरूपितस्वत्वाद्यभाव समानाधिकरणात्यन्ताभावीय प्रतियोगितावच्छेदधर्मापेक्षया गुरुशरीरत्वात् तद्धर्माभावीय प्रतियोगितावच्छेदक धर्मस्य गौरवात् गौरवं संसर्गतावादिमते स्फुटते। (जया व्याख्या व्युत्पत्तिवाद, पृ. 151)

29. संसर्गतावादिमते उपदर्शित प्रतिबध्यप्रतिबन्धक भाव कल्पनं व्याप्य लक्षणीय प्रतियोगितावच्छेदकगुरुधर्मस्य च स्वीकार इत्येतद् गौरव सर्वथारुत्येवेत्यलं पल्लवितेनेति। (जया व्याख्या, पृ. 153)

30. किन्तु संसर्गतावादे राज्ञः पुरुष इत्यत्र शेषत्वाभावेन षष्ठी विभक्तिरवे न सिद्धचेत् तथा चोपस्थित्यादि गौरवेऽपि प्रकारतावः पक्ष एव योग्य इति षष्ठी विधानसिद्धिरिति सरयूपारीणशुक्लाः। (शास्त्रार्थकला, व्युत्पत्तिवाद, पृ. 163)

गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
चन्द्रशेखर आजाद पार्क, इलाहाबाद 211002.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

काव्यस्वरूपपरामर्श

राधावल्लभः

इह तावत् 'अलङ्कृत शुभैः शब्दैः समयैर्दिव्यमानुषैः। छन्दोवृत्तैश्च विविधैरन्वितं विदुषां प्रियम्' इति भगवतो व्यासस्य, 'काव्यबन्धास्तु कर्त्तव्याः षट्त्रिंशल्लक्षणान्विताः' इति भरतमुनेः, 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' इति भामहस्य, 'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' इति दण्डिनः, 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापी'ति मम्मटस्येत्थं प्राचां तानि तानि काव्यलक्षणानि परिशील्य काव्यलक्षणमिदं पुरस्क्रियते—

लोकानुकीर्तनं काव्यम्

लोकशब्दस्तु लोकृ-धातोर्घञि प्रत्यये योजिते निष्पद्यते। लोकयति भासते लोकते पश्यति वा इति लोकः। तत्र यदेव भासते प्रकाशमायाति तल्लोक इत्येवार्थोऽत्र ज्यायान्। तेन 'लोको नाम जनपदवासी जनः। जनपदश्च देश एव' इत्यभिनवभारत्यां (नाट्यशास्त्रस्य 13/69—व्याख्याने) लोकधर्मीनिरूपणप्रसङ्गेऽभिनवगुप्तस्य, स्थावरजङ्गमात्मको लोक इति काव्यहेतुनिरूपणे मम्मटस्य च लक्षणे अग्राह्ये। लोक इति कथनेन न केवलं जन इति अपितु चराचरं जगदपि गृह्यत एव। न केवलं स्थावरजङ्गमात्मकम्, अपितु चेतनया विभाव्यमानं सकलमेव भुवनं लोक इति वक्तव्यम्। प्रसङ्गवशात् सीमितेऽर्थेऽपि लोकशब्दप्रयोगो भवत्येव। तद्यथाऽमरकोशेऽप्युक्तम्—लोकोऽयं भारतं वर्षम् (अ.को. 2/1/6)। तेन भारतवर्षाद् बहिरपि लोके वर्ण्यमाणे नातिव्याप्तिर्मन्तव्या। कविना यदपि दिव्येन आर्षेण चक्षुषा चर्मचक्षुषा वा साक्षात्क्रियते तदेव लोकः। स च लोकस्त्रिविधः। आधिभौतिक आधिदैविक आध्यात्मिकश्च। इदं पञ्चभूतात्मकं जगत् अन्तर्बाह्यकरणैरनुभूयमानं तावदाधिभौतिकम्। भूतेषु भवं भूतसम्बन्धि वा अधिभूतम्। 'पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशाः अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि आप औषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा-इत्यधिभूतम्-इति तैत्तिरीयोपनिषदुक्तेः (तै.उ. 1/7) अस्मिन्नधिभूते भव आधिभौतिको लोकः। निखिलकाव्यकलादीनामयमेवाधारः। ऋतेऽमुष्मान्न मनुष्याणां कार्यव्यापाराः प्रवर्तेरन्निति। तद्यथाऽऽह भरतमुनिः

कर्म शिल्पानि शास्त्राणि विचक्षणबलानि च।
सर्वाण्येतानि नश्यन्ति यदा लोकः प्रणश्यति॥ (ना.शा. 29/127)

आधिदैविकस्तु लोको मानससाक्षात्कारजनितः। देवानां मानसी सृष्टिरिति नाट्यशास्त्रोक्तेः। देवानां मनःसङ्कल्परूपत्वात्, प्राणरूपत्वाद्वा। इदमत्राकूतम्-यदेव चर्मचक्षुषा दृश्यते तदेव न तत्तथा भवति। इन्द्रियार्थसन्निकर्षजं ज्ञानमपि यद्यपि मनसि एव भवति परन्तु भवति तत्र ज्ञानेन्द्रियव्यापारस्यैव प्राधान्यम्। यत्तु मनसा ज्ञानेन्द्रियं प्रेरयता जनेन तत्सङ्कल्पद्वारेण वस्तुनो

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

नवीनं रूपमवलोक्यते विरच्यते वा, तद् भवति आधिदैवको लोकः। वस्तुमात्रस्य प्रतीयमानं स्वरूपमेव तस्यात्मा। तस्मिन्नात्मनि यत् स्यात् तदध्यात्मम्। अत एव वस्तुन आन्तरिकं रूपमेवाध्यात्मम्। आत्मसम्बन्धीत्यर्थः। इत्थं च लोकस्य त्रैविध्यमेतदणोरणीयांसं महतो महीयांसं च समस्तं तत्त्वजातं क्रोडीकुरुते। भवति चात्र परिकरश्लोकः—

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं प्रसृतो लोक एष सर्वथैव।
लोकाद् बहिर्न किञ्चिल्लोके सर्वं प्रतिष्ठितं च॥

एतेन अलौकिकं वस्तु काव्ये वर्णयति कविरिति मतमपास्तम्। यल्लोके न भवति, तस्य काव्येऽप्यसम्भवात्। कथं तर्हि "लोकोत्तीर्णेन रूपेणावरस्थानमित्ययमेवालङ्कारभाव इति (ध्वन्यालोकलोचने, पृ. 499) अभिनवगुप्तस्य, लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धय इति (वक्रोक्तिजीविते 1/2) कुन्तकस्य, काव्यं लोकोत्तरवर्णननिपुणस्य कवेः कर्मेति मम्मटस्योक्तय इमा सङ्गच्छेरन्? वस्तुत एतासूक्तिषु लोक इति पदेनाधिभौतिकं जगदेव गृह्यते। इदमाधिभौतिकं जगद् भवत्येव काव्यस्याधारभूतम्, परन्तु न तन्निरूपण एव काव्यं पर्यवस्यति। तस्मिन् प्रतिष्ठितमपि काव्यं तदतिक्रामति। इदं तावत् काव्यस्यासाधारणत्वमसामान्यत्वं वा। अतश्च कारिकाया 'लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धय' इति पदं व्याचिख्यासुः कुन्तक आह- असामान्याह्लादविधायिविचित्रभावसम्पत्तय इति। काव्यस्य मानवजीवनगत- दैनन्दिन-सामान्यकथनस्य च भवत्येव विशेषः। अयं विशेषः परिभाषितो भोजेनोक्तिलक्षणे विशिष्टा भणितिर्या स्यादुक्ति तां कवयो विदुरिति। अमुमेव विशेषं प्रसिद्धिव्यतिक्रमं वा क्वचिदलौकिकत्वं कविताया आमनन्ति आचार्याः। अत एव भोजस्य लक्षणं विवृण्वन् रत्नेश्वरष्टीकते 'प्रसिद्धिव्यतिरेकेण तु या काचित् कविप्रतिभया भणितिराकृष्यते सा भवति लोकोत्तरा। तथा च प्रतिभाकृष्टतया चमत्कारित्वाद् गुणत्वम्। अतएव कवय इत्याह। कविसहृदयानामेव तादृशोक्तिपरिचयसम्भवात्। (सरस्वतीकण्ठाभरणे, काव्यमाला सं. पृ. 60)

भवतु नाम काव्यस्य माहात्म्यख्यापनाय तस्य लोकोत्तरत्वनिरूपणम्, तत्र च लोकशब्दस्य सङ्कुचितेऽर्थेऽपि ग्रहणम्। परन्तु लोकानुकीर्तनं काव्यमित्यस्मल्लक्षणे यो लोक उल्लिखितस्स तु त्रिलोकीमेव समावेशयति, न केवलमाधिभौतिकं जगत्। तस्य लोकस्यानुकीर्तनं काव्यम्। अनु पश्चात् कीर्तनं कथनम्। तेन लोकस्य पूर्ववर्तित्वं, काव्यस्य पश्चाद्वर्तित्वं च नियतम्। अनुकीर्तनं शब्दैः पुनराविष्करणम्। शब्दाश्च भवन्ति सार्थाः। इत्थमनुकीर्तनमिति पदेन निर्दुष्टयोः सगुणयोः सालङ्कारयोः रसाभिव्यञ्जकयोश्च शब्दार्थयोः सङ्ग्रहः।

अनून्मीलनम्, अनुदर्शनम्, अनुभवोऽनुव्याहरणं चेति चतस्रो दशा अस्यानुकीर्तनस्य भवन्ति। येयं प्रकृतिविहिता भौतिकी सृष्टिस्तस्या कवयितुर्मानसे प्रथम उन्मेषो नामानून्मीलनम्। उन्मिषितायास्तस्याः कवयित्रा स्वान्तश्चेतसि दर्शनमेवानुदर्शनम्। अनुदृष्टायास्तस्या वर्णनाय वस्तुनो रूपस्य शब्दार्थयोर्वाऽऽविष्कारोऽनुभवः। अनुभूतायास्तस्याः स्फुटैः शब्दैः गोचरीभवितुमर्हैः कथनमनुव्याहरणम्। वाचो निरूपणे एतान्येव चत्वारि चरणानि वैयाकरणैः परा, पश्यन्ती, मध्यमा वैखरीति निगदितानि। तथा चाह श्रुतिरपि—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीण्यङ्गिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥ (ऋग्वेदे, 1/164/45)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भट्टतौतस्तु दर्शनं वर्णनं चेति द्विविधां काव्यरचनाप्रक्रियामाह—

नानृषिः कविरित्युक्त ऋषिश्च किल दर्शनात्।
स तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः।
विचित्रभावधर्मांशतत्त्वप्रख्या च दर्शनम्।
दर्शनाद् वर्णनाच्चाथ लोके रूढा कविश्रुतिः।
नोदिता कविता तावद् यावज्जाता न वर्णना॥

दर्शनवर्णनयोर्द्वयी वस्तुतोऽनून्मीलनानुदर्शनानुभवानुव्याहरणानां चतुष्टयीं बिना न प्रवर्तते। तथाहि-उन्मीलितस्यैव तत्त्वस्य दर्शनम्। दृष्टस्य चानुभवः, अनुभूतस्य च कथनम्। एतान्येव शब्दान्तरैः काव्यरचनाप्रक्रियेति व्यपदिशन्त्याधुनिकाः।

साहित्यस्याप्ययमेवाशयः। सम्-उपसर्गपूर्वकात् धा-धातोर्निष्पद्यते साहित्यशब्दः। तद्यथा—'लुम्पेदवश्यमः कृत्ये तुङ्कममनसोरपि'-इति नियमात् हिततत्तयोः प्राक् सम् इत्युपसर्गस्य मकारो लुप्यति। तेन सम्+हित इति संहितायां प्राप्तायां सन्ततशब्दो यथा सततत्वेन तथा संहित इति शब्द एव सहितत्वेन परिणमति। संहितत्वं नाम शब्दार्थयोरावापोद्वापसमन्वितं सम्यगाधानम्। संहितत्वं सहितत्वं वा साहित्यम्। तेन च तुल्यवदेकक्रियान्वयित्वं, बुद्धिविशेषविशेषत्वे वा साहित्यमिति शब्दशक्तिप्रकाशिकाया (94तमस्य श्लोकस्य टीकायाम्, पृ. 119) लक्षणमपि सङ्गच्छते, साहित्ये काव्ये वा सर्वथा एकान्वितेरिष्यमाणत्वात्। न्यायमञ्जरीकारोऽपि तुल्यवदेकक्रियान्वयित्वं साहित्यमित्याह। तच्च न्यायकोशकारः (पृ. 1018) इत्थं व्याचष्ट-एककारकान्वयित्वेन तुल्ययोरेकजातीयक्रिययोरन्वयित्वमिति। एतेन च साहित्ये एकवाक्यत्वं महावाक्यत्वं च साध्यते।

कुन्तकस्तु साहित्यशब्देन सहभाव इत्यर्थमेव जग्राह—"सहितौ सहितभावेन साहित्येनावस्थितौ" (व.जी., पृ. 10) इति कथयन्। परन्तु सोऽपि नायं सहभावः सामान्यः, विशिष्टमेव साहित्यमिहाभिप्रेतमिति स्वीकरोति। तच्च विशिष्टं साहित्यं कीदृशमिति निरूपयता तेनैवाभाणि—"वक्रताविचित्रगुणालङ्कारसम्पदां परस्परस्पर्धाधिरोह इति (तत्रैव, पृ. 10)। शब्दार्थयोः सामान्यः सहभावस्तु प्रसिद्ध एव। एतश्चाह—"सहिताविति तावेव किमपूर्वं विधीयते? (तत्रैव, 1/16) अतोऽपूर्व एव सहभाव इह विवक्षितः। तत्कृते चापेक्ष्यते शब्दार्थयोरन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः। तद्यथाऽऽह—

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः॥ (व.जी. 1/17)

अनयोः शब्दार्थयोरित्याशयः।

विद्यानिवासमिश्रास्तु-साहित्यं नाम विहितत्वं, प्रहितत्वं पिहितत्वं सन्निहितत्वं निहितत्वमवहितत्वं वा; विधातुः सृष्टेः रूपान्तरणाद् नवीनविधानकरणाद् वा विहितत्वम्, आच्छादनात् पिहितत्वंम्, आत्मीयतया सन्निहितत्वं, सम्यग्विन्यासान् निहितत्वं, सम्प्रेषणात् प्रहितत्वं समाधिनिष्ठतया रचयितुमर्हत्वादवहितत्वं चेत्याहुः।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इदमत्राकूतम्—विधातुः सृष्टेः समनन्तरं नवविधानदक्षयोः यद्वा नूतनसृष्टिसमर्थयोः सम्प्रेषणार्हयोरावरणकल्पयोः शब्दार्थयोः समुचितो विन्यासः साहित्यं काव्यमिति वा। नन्वत्र सहितत्वं पिहितत्वमाच्छादकत्वमित्यपि कथितम्। काव्यं नाम किमाच्छादयति पिदधाति वा? वस्तुतः शब्दार्थयोर्विचित्रोऽत्र विन्यासः रक्षाकवच इव मानवं पापेभ्यस्त्रायते। इदमेवावरकत्वं पिधानं वा। तस्माच्च काव्यं छन्द इति समाम्नातम्। तद्यथोक्तं तैत्तिरीयारण्यके (2/5)—छादयन्ति ह वा एवं छन्दांसि पापात्कर्मणः' इति। अन्यच्च क्वचिद् आधिव्याधिप्रभृतिभौतिकतापेभ्यः क्षणं त्राणादपि आच्छादकत्वम्। तदुक्तं मम्मटेन-काव्यं शिवेतरक्षतय इति। वाचां परिस्पन्दो निवारयत्यमङ्गलम्। अतश्च यथात्मबोधाय तथात्मत्राणाय सहित्यं कल्प्यते। उक्तमेव तैत्तिरीयसंहितायां—अग्निरूपात् प्रजापतेरात्मानं त्रातुं देवाश्छन्दांसि श्रितवन्त इति—प्रजापतिरग्निमचिनुत, स क्षुरपविर्भूत्वाऽतिष्ठत्, तं देवा बिभ्यतो नोपायन्त छन्दोभिरात्मानं छादयित्वोपायन्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् (तै.सं. 5/6/6/1)।

छन्दस्तु सर्वत्रानुस्यूतं समेषां मानसे पिनद्धं किमपि तत्त्वम्। काव्येऽपि गद्ये वा पद्ये वाऽस्य व्याप्तिः, प्रतिशब्दं छन्दसो वर्तमानत्वात्। तद्यथोक्तं मुनिना भरतेन—छन्दोहीनो न शब्दोऽस्ति न च्छन्दः शब्दवर्जित इति। अस्य च छन्दसो द्वैविध्यम् आभ्यन्तरबाह्यभेदात्। यदस्याभ्यन्तरं रूपं तत्तु समग्रां सृष्टिमभिव्याप्नोति। विद्यमाने तस्मिन् प्रबन्धेषु आन्तरिकी सङ्गतिः सम्भवति, तेन तेषु महावाक्यं निष्पद्यते। बाह्यं तु रूपं पिङ्गलादिशास्त्रेण निर्धार्यते। अविद्यमानेऽपि तस्मिन् क्वचिद् भवति छन्दसो निष्पत्तिः। उक्तमेव मयाऽप्यन्यत्र स्वकाव्ये—

त्रुटिते छन्दोबन्धे लययतिभङ्गे समं सञ्जाते।
किमपि किमपि यद् रचितं तदपि तदपि समजनिच्छन्दः॥

छन्दसा निबद्धत्वं स्वच्छन्दत्वं चेत्युभयमपि द्योत्यते। छन्द इव छन्दस् इति शब्दस्यापि अभिलाषे स्वैराचारे च प्रयोगात्।

यत्तु साहित्यं नाम दर्पणस्समाजस्येत्युक्तं तच्चिन्त्यम्। दर्पणे बाह्यं रूपं यथावत् प्रतिबिम्बितं भवति। साहित्ये काव्ये वा केवलं समाजस्य लोकस्य वा बाह्यं रूपमेव न निरूप्यते। यत्तु सूक्ष्ममाभ्यन्तरं वा तस्य रूपं तदपि भवति तत्र चित्रितम्। यदि तु साहित्यं लोकस्य आधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिकानां त्रयाणामेव दर्पण इत्याशयेन तस्यादर्शत्वं निरूप्यते, तदा न दोषः। अभिनवगुप्तस्यु कविप्रतिभा भित्तिभूता, तस्यां दर्पण इव निखिलं जगत् प्रतिबिम्बितं भवतीत्याशयेनाह—

भासा नाम च प्रतिभा महती सर्वगर्भिणी।
स्वस्वभावशिवैकात्मदेशिकात्मकचिन्मयी॥

यस्यां हि भित्तिभूतायां मातृमेयात्मकं जगत्।
प्रतिबिम्बतया भाति नगरादिव दर्पणे। (महार्थमञ्जर्याम्, 105)

इदं च प्रतिबिम्बितं जगत् कविप्रतिभा अनून्मीलयत्यनुपश्यत्यनुभवत्यनुव्याहरति च।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ननु आधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिकेति त्रिविधो लोक उक्तः। अस्मिन्नेव लोके अवस्थितः कवी रचयति काव्यम्। यच्चासौ रचयति काव्यं तदपि लोक एव। न तल्लोकातिगमपितु लोकान्तर्वर्त्येव। कथं तर्हि लोकानुकीर्तनं काव्यमिति लक्षणं सङ्गच्छते? दर्शने दृष्टदृश्योरिवानुकीर्तने कीर्तनकर्तृकीर्त्यमानयोर्भेदेनावश्यं भाव्यम्। काव्यमपि लोकः कथं तर्हि लोकेन लोकस्यैवानुकीर्तनं क्रियेत? अत्रोच्यते-भवतु नाम आत्मनैवात्मनोऽनुकीर्तनं काव्यम्। यथा आत्मानमात्मनैवोद्धरति, आत्मनामात्मना वाऽऽविष्करोति नियमयति च सचेतनस्तथैव लोको लोकान्तर्वर्तिनैव काव्येनात्मानमाविष्करोति नियमयति च। उक्तमेव राजशेखरेण-कविवचनायत्ता लोकयात्रा, सा च निःश्रेयसमूलमिति। काव्यं लोकस्यैव विशिष्टं रूपम्। अनेन विशिष्टरूपेण सामान्यं स्वकीयं रूपं लोकः परिमार्जयति पुनराविष्करोति चेत्यपि शक्यते वक्तुम्।

लोकवृत्तसङ्ग्रहस्यानुकीर्तनस्य च प्रकृष्टत्वमुत्कृष्टत्वमपकृष्टत्वं वा परिलक्ष्य उत्तमोत्तमम्, उत्तमं, मध्यमम् अधमं चेति काव्यस्य, सिद्धः साधकः आभ्यासिको घटकश्चेति कवेः तत्त्वाभिनिवेशी, विषयनिष्ठो विषयिनिष्ठो सतृणाभ्यवहारी चेति समीक्षकस्याचार्यस्य वा, साङ्कर्यं, संसृष्टिः ईषत्स्पृष्टत्वमभावश्चेति शास्त्रसन्निवेशस्य कोटयो भवन्ति। भवति च परिकरश्लोकोऽत्र—

यथा कविस्तथा काव्यं तथा चापि समीक्षकः।
चातुर्विध्यं त्रयाणां च प्रत्येकं परिकल्पितम्॥

संस्कृत विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर

हिन्दी में सारांश

इस लेख में 'लोक का अनुकीर्तन काव्य है'—यह काव्य का लक्षण किया गया है। जो प्रकाशित या प्रकट हो वह लोक है। यह तीन प्रकार का है—अधिभौतिक, अधिदैविक तथा आध्यात्मिक। इस लोक के अनुकीर्तन के द्वारा काव्य की जगत् के स्थूल, सूक्ष्म व आभ्यंतर स्तरों में व्याप्ति संभव है। अतः काव्य में कुछ भी अलौकिक या लोकोत्तर नहीं होता। अनुकीर्तन से आशय उत्तरवर्ती या पश्चाद्वर्ती कंथन है। यह शब्द और अर्थ के विन्यास से होता है। अनून्मीलन, अनुदर्शन, अनुभव और अनुव्याहरण—ये चार अनुकीर्तन की अवस्थाएँ हैं। इन चारों की परिणति में शब्दार्थ का सम्यक् आधान होता है। साहित्य का भी यही आशय है।

लोकान्तरवर्ती होकर भी साहित्य उसका असाधारण रूप है। वह उसके साधारण रूप को नियंत्रित, नियमित और परिवर्तित भी करता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अथातोऽध्यास जिज्ञासा

धर्मानन्दः

निबन्धस्यास्य प्रेरणा गताङ्के प्रकाशितो विद्यावयोवृद्धस्य यशोदेवशल्यस्य अध्यासविषयको लेख एव। नाहमत्र किमप्यचर्चितचरं चिन्तयामि। लेखकगतमेव किञ्चिदवलोकयामि भाष्यालोके।

सापेक्षोऽयं सकलः प्रपञ्चः। विरुद्धस्वभावौ च विषयविषयिणौ। तत्र विषयी चैतन्यस्वरूपमात्मा। तद्व्यतिरिक्तश्च सर्वोऽनात्मो विषयो जडः। विषयविषयिणौ हि विरुद्धस्वभावत्वादितरेतरभावानुपपत्तिः। तथापि दृश्यते अहमिदं ममेदमिति लौकिको व्यवहारः। स च नैसर्गिकः। तस्य निमित्तं तावदध्यासः। न हीन्द्रियाण्यनुपादाय प्रत्यक्षादिव्यवहारः सम्भवति। न चाधिष्ठानमन्तरेणेन्द्रियाणां व्यवहारः सम्भवति। न चानध्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चिद् व्याप्रियते। व्यवह्रियतेऽनेनेति व्यवहारो नाम फलं प्रत्यक्षादीनां प्रमाणानाम्। सर्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहारा अध्यासं पुरस्कृत्यैव प्रवर्तन्ते। नहि तावद् देहेन्द्रियादिष्वहम्ममाभिमानरहितस्य प्रमातृत्वानुपपत्तौ प्रमाणप्रवृत्तिरुपपद्यते। व्यवहारस्तु चतुर्धा अभिज्ञा अभिवदनम्, उपादानम्, अर्थक्रियाश्चेति सर्वमध्यासपूर्वकमेव सम्पद्यते। तदेवोच्यतेऽध्यस्य व्यवहरति लोक इति।

व्याप्तिमूलकोऽयमध्यासः सर्वथा भाववृत्तिको न तु ज्ञानवृत्तिकः। ज्ञानवृत्तिर्हि वस्तुतंत्रा। भाववृत्तिश्च पुरुषव्यापारतंत्रा। भावोनाम न सर्वथा 'भावना'। स तु कश्चिदपूर्व इतरेतरजननव्यापारो बुद्धिवृत्तिरिति यथाह भाष्यकार इतरेतरभावानुपपत्तिरिति। लक्षितश्च तेनापरत्र अतस्मिंस्तद्बुद्धिरिति। वाचस्पतिमिश्रोऽपि तमेवार्थं विशदयति 'इतरेतरत्र धर्मिणि धर्माणां भावो विनिमय' इति। भूधातुर्हि भूसत्तायामिति पाणिनिपाठात् सत्तावचनः। न पुनरत्र भावशब्दो भवतीति व्युत्पत्त्या तात्त्विकीं पारमार्थिकीं वा सत्तां सन्धारयति। स तु भावयतीति व्युत्पत्त्या प्रातिभासिकीं सत्तामवगमयति। यथोक्तमाचार्येण 'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः' इति। अवसन्नोऽवमतो वा भासोऽवभासः। प्रत्ययान्तरबाधश्चास्यावसादोऽवमानो वा। 'अव' इत्युपसर्गपूर्वकः 'षदॢ विशरणगत्यवसादने' इतिधातुनिष्पन्नोऽयमवभासोऽवसन्नार्थकः। यथाह ज्ञानश्री 'अर्थश्चैकोऽध्यासतो भासतेऽन्यः स्थाप्योवाच्यस्तत्त्वतो नैव कश्चित्' इति। अस्यावभासस्य प्रातिभासिकीं सत्तां व्याकुर्वन्नाह भामतिपतिः मिथ्याप्रत्ययश्चारोपविषयारोपणीयस्य मिथुनमन्तरेण न भवतीति पूर्वदृष्टग्रहणेनानृतमारोपणीयमुपस्थापयति। तस्य च दृष्टत्वमात्रमुपयुज्यते न वस्तुसत्तेति दृष्टग्रहणम्। तथापि वर्तमानं दृष्टं दर्शनं नारोपयोगीति पूर्वेत्युक्तम्। तत्र पूर्वदृष्टं स्वरूपेण सदप्यारोपणीयतयाऽनिर्वाच्यमित्यनृतम्। परत्र शुक्तिकादौ परमार्थसति तदनेन सत्यानृतमिथुनमुक्तम्।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भाववृत्तिकैषा प्रातिभासिकी सत्ता तादात्म्यमूला सकलमेव वस्तुजातं व्याप्नोति। परवशमिव च करोत्यात्मानम्। भवति हि तत्र सत्यानृतयोर्मिथुनीकरणम्। न च संवृतिपरमार्थसतोः पारमार्थिकं मिथुनमस्तीत्यभूततद्भावार्थस्य च्वेः प्रयोगः। सूत्रितं हि पाणिनिना कृभ्वस्तियोगे सम्पद्य कर्त्तरिचेति। च्विविधावभूततद्भावग्रहणमिति वार्तिककारः। लोकसंवृतिसत्यमिदं सौगततंत्रे। सा च संवृतिरनादिवासनाबलायातः प्रतिभासः। संव्रियते आव्रियते यथाभूतपरिज्ञानं स्वभावावरणादावृतप्रकाशनाच्च अनयेति संवृतिः। सत्ता चैषा व्यावहारिकी।

अध्यासं पुरस्कृत्यैव प्रवर्तते लोकलीलेति कृतं कथनेन। आत्मनिचायमध्यासश्चतुर्धा भवति। तद्यथा पुत्रभार्यादिषु विकलेषु सकलेषु वाहमेव विकलः सकलो वेति बाह्यधर्मा आत्मन्यध्यस्यन्ते। तथा देहधर्माः स्थूलोऽहं कृशोऽहं गौरोऽहं तिष्ठामि गच्छामि चेति। तथेन्द्रियधर्मा मूकः काणो क्लीवोऽहमिति। तथान्तःकरणधर्माः कामसंकल्पविचिकित्साव्यवसायादयश्चात्मन्यध्यस्य प्रवर्तते लोकः। एवं सम्पिडने षड्विधोऽयमध्यासः। (1) धर्माध्यासः (2) धर्मसहितधर्मिणोऽध्यासः (3) सम्बन्धाध्यासः। (4) सम्बन्धसाहित सम्बन्धिनोऽध्यासः (5) अन्यतराध्यासः (6) अन्योन्याध्यासश्च। षड्विधोऽयमध्यासः स्वरूपाध्यासः संसर्गाध्यासश्चेति द्विधा भिद्यते। षण्णमेतेषां तयोरेव द्वयोरन्तर्भावो भवति। स्वरूपाध्यासे पूर्वोक्तानां प्रथमद्वितीयपञ्चमानामन्तर्भावः सम्भवति। तृतीयश्च संसर्गाध्यासेऽन्तर्भवति। चतुर्थषष्ठौ तु स्वरूपसंसर्गाध्यासयोः सम्मिश्रणरूपौ।

वस्तुतोऽध्यासोऽयं भेदं विशिनष्टि द्वैतं व्याकरोति। नासतो मृगतृष्णादयोऽपि निरास्पदा भवन्ति। न शूक्तिमन्तरा रजताध्यासः सम्भवति। रजतावभासस्याधिष्ठानं शूक्तिः। रजतस्य मिथ्याप्रतीतिर्न शूक्तिमन्तरा कथमप्युपपद्यते न मृगतृष्णादयोऽपि निराश्रयाः क्वचित्केनचिदुपलभ्यन्ते। अतो न जगद्रूपं द्वैतं कथमप्यधिष्ठानं विनोपपद्येत। दृश्यमानस्यास्य प्रपञ्चस्य यथेन्द्रियादिव्यवहारः शरीराधिष्ठानपुरस्सर एव सम्पद्यते तथैव ब्रह्माधिष्ठानपूर्वकमेव जगदिदं निखिलं प्रवर्तेत। अध्यस्यते हि यत्र नानात्वं तदेव ब्रह्म नानात्वस्याधिष्ठानम्। यत्र पुनर्विषयरूपं जगदध्यस्यते तच्चाधिष्ठानं ब्रह्म। यत्र च विषयिनिष्ठं जगदध्यस्यते स आत्मेति ज्ञातव्यम्।

अर्थे ज्ञाने चेति द्विविधा वृत्तिरध्यासस्य। शूक्तौ मिथ्याभूतस्य रजतस्याध्यासोऽर्थाध्यासः। मिथ्याभूतस्य च ज्ञानस्यात्मन्यध्यासो ज्ञानाध्यासः। प्रमाणं दोषः संस्कारश्चेति त्रितयादस्य जन्म। प्रमाणं चक्षुरादिकं दोषो दूरत्वादिः संस्कारश्च पूर्वं रजतानुभवादात्मन्युत्पन्नः। एतस्मिन् चितयसत्त्व एव शूक्ताविदं रजतमिति भ्रमो जायते। शूक्तिकायामिह रजताध्यासः। भवति हि यदध्यासो न तत्कृतेन गुणेन दोषेण वाधिष्ठानमणुमात्रमपि सम्बध्यते।

आत्मातावदत्राहंकारमूलकोऽस्मिताबोधः। स चाहंप्रत्ययी धर्म्यध्यासः। सर्वे वेदान्ता आत्मैकत्वप्रतिपत्तये प्रवर्तन्ते। तदर्थ चेष्यत आत्मचैतन्यम्। सर्वा नैतिकता मूल्यात्मकता वा तत्रैव निहिता। अनतिक्रम्य सामान्यमात्मभावं न चैतन्यस्य प्रत्यङ्मुखता सम्भवति। तादृशमात्मोन्नयनमहंकारातिक्रमणपूर्वकमेव भवति। विशिष्टो हि स बोधः सर्वभूतेष्वात्मभावरूपः। तच्चैतन्यं प्रत्यगात्मचैतन्यम्। यद्यप्यहंमूलक एव सकलो लोकव्यापारः

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सकला च क्रियानिष्पत्तिः। तथाप्यंहकारापचयपुरस्सरा एव भवति क्रियोत्कर्षता। क्रियासिद्धिस्तु सत्त्वे भवति। सत्त्वोद्रेकश्चाहंकारोपहत्या भवति। लोकोत्तरा कापि क्रियानिष्पत्तिः सत्त्वोदयादेव सम्भवति। तस्मादेव भवति आत्मचेतनः पुमान्। सर्वत्रैव स आत्मभावं भजते। आत्मलाभं च लभते।

दर्शन विभाग, पंजाब विश्वविद्यलाय, चण्डीगढ़

हिन्दी में सारांश

प्रस्तुत लेख का प्रेरणालोक 'उन्मीलन गोष्ठी' में श्रद्धेय शल्यजी के अध्यास विषयक चिन्तन पर आयोजित वह परिसंवाद है जिसे 'उन्मीलन' के विगत अंक में प्रकाशित किया गया है।

अध्यास आचार्य शङ्कर की मौलिक उद्भावना है। यह उनके चिन्तन का मेरुदण्ड एवं उनके अद्वैत तत्त्व का अधिष्ठान है। वस्तुतः 'अध्यास' की प्रतिष्ठा के प्रयोजन की परिणति भी ब्रह्म को द्वैतजगत् का अधिष्ठान बनाने में ही होती है और इसी तरह अधिष्ठान में नानात्व का अनुसन्धान भी अध्यास का ही पूरक परिणाम है। अतः अद्वैत की तत्त्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा के लिए 'अध्यास' एक अपरिहार्य तार्किक अभीप्सा है। अध्यास मात्र आरोप नहीं है, यह एक तरह का 'अध्यारोप' है : विषय-विषयी, जड़-चेतन का और उनके धर्मों का इतरेतर अध्याक्षेप है। यह सामान्य भ्रम नहीं है, इस भ्रम की व्याप्तिमूलक सत्ता है। यह निश्चित ही भाववृत्तिक है, प्रातिभासिक सत्तामूलक है। इसके बिना परमार्थ में व्यापार या व्यवहार की सम्भावना बन ही नहीं सकती। यदि यह सत् नहीं है तो असत् भी नहीं है। वस्तुतः यह सत् और असत् दोनों के लिए समान चुनौती है। फलतः यह अनिर्वचनीय है और इसी अर्थ में मिथ्या है। इसीलिए आचार्य ने इसे असत् नहीं, सत्यानृत का मिथुनीकरण कहा है—मिथुनीकृत्य प्रवर्तते। 'मिथुनीकृत्य' में 'च्वि' प्रत्यय वार्तिककार के अनुसार अभूततद्भावग्रहण—जो जैसा नहीं है उसको वैसा समझना—के अर्थ का द्योतक है। सत्य के साथ अनृत का युगलीकरण असत् कैसे होगा? वह तो अनिर्वाच्य ही होगा और वह अनिर्वचनीयता मिथ्यात्व के अधिष्ठान की ही सिद्धि करेगी। अतः रज्जुसर्प एवं शुक्तिरजत आदि सभी लौकिक दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक के इसी अंश पर लागू होंगे, समग्र स्वभाव पर नहीं। प्रातिभासिक सत्ता के ये दृष्टान्त एक ओर जहाँ व्यावहारिक सत्ता की प्रतिष्ठा करते हैं वहीं दूसरी ओर पारमार्थिक सत्ता की ध्रुवता, निर्दुष्टता और निर्गुणता को भी प्रमाणित करते हैं। यद्यपि प्रत्येक क्रिया या कर्म अहंकारमूलक ही होता है तथापि वह कर्म उत्कृष्ट और उदात्त तभी हो सकता है जब अहं का अतिक्रमण हो, अहं प्रत्ययी आत्मा प्रत्यङ्मुख हो, आत्मचेतन हो। विज्ञान, कला या शिल्प किसी भी क्षेत्र में कोई भी उदात्त निष्पत्ति चेतना के अतिक्रामी हुए बिना सम्भव नहीं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उन्मीलन-गोष्ठी

यह उन्मीलन-गोष्ठी दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय के एक भूतपूर्व अध्यापक स्वर्गीय अवनिमोहन घोष की स्मृति में आयोजन के रूप में हुई थी। यह आयोजन 11.9.99 को दर्शन विभाग में किया गया। इसमें प्रो. दयाकृष्ण, प्रो. राजेन्द्रस्वरूप भटनागर, डॉ. नन्दकिशोर शर्मा, डॉ. मुकुन्द लाठ, श्री यशदेव शल्य, डॉ. के. एल. शर्मा, डॉ. प्रकाशकुमार श्रीवास्तव, डॉ. कुसुम जैन, डॉ. योगेश गुप्ता, डॉ. आनन्द कश्यप तथा विश्वविद्यालय के अन्य कुछ अध्यापकों और दर्शन-विभाग के छात्रों ने भाग लिया। गोष्ठी का संचालन डॉ. के. एल. शर्मा ने किया और अध्यक्षता डॉ. दयाकृष्ण ने।

डॉ. के. एल. शर्मा के आरम्भिक वक्तव्य के बाद श्री यशदेव शल्य, डॉ. प्रकाशकुमार श्रीवास्तव तथा डॉ. मुकुन्द लाठ ने 'दर्शन के इतिहास' विषय पर व्याख्यान दिये। इनका सार-संक्षेप नीचे दिया जा रहा है।

आरम्भिक वक्तव्य में डॉ. के.एल. शर्मा ने श्री घोष का स्मरण करते हुए बताया कि उनके विद्यार्थी-काल में जिन तीन अध्यापकों ने उन्हें सर्वाधिक प्रभावित किया उनमें एक श्री घोष थे। उनके अनुसार, घोष साहिब की सबसे बड़ी विशेषता उनकी अध्ययन-शीलता थी। पुस्तकालय के दर्शन-खंड के निर्माण में सर्वाधिक योगदान उन्हीं का है। इतना ही नहीं, आश्चर्य की बात यह है कि इस खंड की अधिकांश पुस्तकें उन्होंने पढ़ी भी थीं। वे अक्सर पुस्तकालय में मिल जाते थे। डॉ. शर्मा ने बताया कि उन्हें जब भी कभी कोई विशेष पुस्तक ढूँढने में दिक्कत आती तो वे श्री घोष से कहते और वे झट से वह पुस्तक निकाल देते।

उनकी रुचि का मुख्य विषय दर्शन का इतिहास था, किन्तु इतनी ही रुचि वे दार्शनिकों की जीवनियों में भी लेते थे और न जाने कहाँ से वे उनके जीवन के वृत्तांत खोज लाते थे।

इसके अनंतर डॉ. शर्मा ने दर्शन के इतिहास के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न रखे। उनका मुख्य प्रश्न था कि क्या दर्शन का इतिहास दार्शनिकों के विचारों का विवरण मात्र होता है या कि वह स्वयं दार्शनिक चिन्तन भी होता है? अर्थात्, दर्शन के इतिहास का अध्येता क्या अन्य दार्शनिकों के विचारों को इतिवृत्तों के समान देखता है या कि उनके साथ विचार में सहभाग भी लेता है?

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

श्री यशदेव शल्य

श्री शल्य ने कहा कि 'इतिहास' का सामान्य अर्थ मनुष्य के अतीत का विवरण है। इसके साथ इसमें यह भी अभिप्रेत रहता है कि यह विवरण अन्तर्निबद्ध, अन्तर्योजित है। किन्तु यदि घटनाओं को हम बाहर से देखें, उनके कर्त्ता, भोक्ता या ज्ञाता के रूप में किसी विषयी को पूर्वगृहीत नहीं करें तो इन घटनाओं में कोई अन्तःसम्बन्ध हमें दिखायी नहीं देगा। वास्तव में तो जब हम अपनी ओर भी देखते हैं तो हमें अपने सुदूर या निकटवर्ती अतीत या वर्तमान की भी कुछ घटनाएँ ही ध्यान में आती हैं, जिनमें कोई व्यवस्था या तर्क नहीं होता। किन्तु ये एक अन्तर्व्यवस्थित-अन्तस्संबद्ध विषयी से, व्यक्ति से सम्बद्ध होती हैं। यह व्यक्ति अन्तस्सम्बद्ध होता है, उसमें एक सन्ततता और व्यवस्था होती है। इसका प्रमाण उसकी कृतियों में देखा जा सकता है जो सुदीर्घ काल-क्रम में निर्मित होने पर भी एक अवयवी-रूप होती हैं। उदाहरणतः एक पुस्तक लिखने में लेखक को कुछ वर्ष भी लग सकते हैं किन्तु उस पुस्तक में एक ही विचार व्याख्यायित होता है। किन्तु उसका लेखक तो उस काल में अन्य भी अनेक कार्य करता है और उन कार्यों में बाह्यतः कोई सम्बन्ध भी दिखायी नहीं देता। तब भी वे सब कार्य और पुस्तक में व्याख्यायित विचार एक ही व्यक्ति की जीवनी से सम्बद्ध होते हैं। यह जीवनी चेतना की एक अन्तर्धारा कही जा सकती है। शल्य जी का कहना था कि किसी समाज का इतिहास भी इसी प्रकार चेतना की एक अन्तर्धारा ही होता है जो उसकी बाह्य घटनाओं को धारण करती है। इतिहासकार उसी सीमा तक सफल इतिहासकार होता है जिस सीमा तक वह इस अन्तर्धारा का साक्षात्कार कर सकता है, उससे सह-अनुभूति का सम्बन्ध स्थापित कर सकता है बाह्य घटनाओं के अनवरत क्रम के रूप में किसी समाज में कोई ऐतिहासिकता दिखायी नहीं देती। पहले इतिहास-लेखन अधिकांशतः किसी समाज के राजनीतिक पक्ष तक सीमित था। किन्तु उस पक्ष में भी कोई नैरन्तर्य और विकास या ह्रास का क्रम कहाँ देखा जाता है? सबसे अधिक नैरन्तर्य की सम्भावना तो सांस्कृतिक पक्ष में ही सम्भव होती है, क्योंकि संस्कृति किसी समाज का आत्मानुशीलन और आत्मचरितार्थन की प्रक्रिया ही होती है। किन्तु समाज के इस पक्ष में भी नैरन्तर्य काल-खण्डों में तो एक सीमा तक दिखायी देता है समाज के सम्पूर्ण जीवन-काल में नहीं। किन्तु काल-खंडों में भी यह नैरन्तर्य कैसा होता है? क्योंकि इसमें नवोद्भावनाएँ क्रम को नया मोड़ देती हैं और तब उससे एक नयी परम्परा चलती है, अन्यथा पुरानी लीक पर ही विचार या भाव अपने को अभिव्यक्त करता चलता है। नयी उद्भावना को भी पहले की उद्भावनाओं पर कोई उत्कर्ष की सिद्धि नहीं कह सकते, केवल परम्परा के रूप में आयी निर्जीवता में नवजीवन का संचार कह सकते हैं। इस स्फोट से फिर एक परम्परा आरम्भ हो जाती है जिसे आप इतिहास कह सकते हैं, किन्तु इसमें फिर क्रमशः निर्जीवता आ जाती है। दर्शन का इतिहास कुछ इसी प्रकार परम्पराओं के रूप में चलता है। कुछ ऐसी ही बात धर्म, साहित्य और अन्य कलाओं में देखी जाती है। किन्तु किसी समाज को जो बात आरम्भ से अंत तक जोड़ती है वह एक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

चेतना की अन्तर्धारा ही होती है। वर्तमान भारत को वैदिक भारत से जो हम जोड़ सकते हैं वह इसी अर्थ में यद्यपि यह सही है कि इस नैरन्तर्य की पहचान तो बाह्य लक्षणों से ही होगी। चैत्त नैरन्तर्य के अभाव के आधार पर ही 'यूनानो मिस्र रोमा को जहाँ से मिट गये' कहा जाता है और इस नैरन्तर्य के होने से ही भारतीय संस्कृति को एक जीवित संस्कृति कहा जाता है।

प्रकाशकुमार श्रीवास्तव

डॉ॰ श्रीवास्तव ने अपने वक्तव्य में कुछ प्रश्न उठाए और कहा कि वे प्रश्न उठाने तक ही सीमित रहेंगे। किन्तु उन्होंने आरम्भ इस प्रतिपादन के साथ किया कि इतिहास मनुष्य के अतीत का वर्णन नहीं है, क्योंकि मनुष्य जो सोचता और करता है उसका वर्णन सम्भव नहीं है।

दर्शन के इतिहास के स्वरूप के सम्बन्ध में उन्होंने प्रश्न किया कि पहले तो यह विचारणीय है कि दर्शन किस प्रकार की क्रिया और प्रक्रिया है और फिर यह कि क्या इसका कोई इतिहास हो सकता है?

इसके अनंतर उन्होंने प्रश्न उठाया कि परम्परा और इतिहास में क्या सम्बन्ध है और क्या भेद है? दार्शनिक परम्परा की बात तो की जाती है और सार्थक रूप में की जाती है किन्तु क्या उसे दर्शन का इतिहास कहा जा सकता है? दार्शनिक परम्परा का अन्य परम्पराओं से क्या सम्बन्ध होता है?

मुकुंद लाठ

मुकुंद जी ने परम्परा और इतिहास में भेद करते हुए कहा कि परम्परा संस्कृति के लिए आधारभूत होती है क्योंकि उसी के आधार पर किसी समाज का चिन्तन, भाव-बोध और सृजन रूप लेते हैं। इस प्रकार दर्शन, धर्म और साहित्य तथा कलाओं की परम्परा होती है और उस परम्परा को समझ कर ही किसी कृति को समझा जा सकता है। 'परम्परा' के बजाय 'इतिहास' की बात 18वीं शताब्दी में यूरोप में आरम्भ हुई, उसीसे हमारे यहाँ भी इस मान्यता का सूत्रपात हुआ। आधुनिक पश्चिम ने इतिहास-बोध को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया है और इसे समाजों की उत्कृष्टता के मानदंड के रूप में स्थापित कर दिया है जिसका कोई औचित्य नहीं है। यह द्रष्टव्य है कि परम्परा वर्तमान को आधार देती है और भविष्य को लक्षित करती है जबकि इतिहास अतीतोन्मुख होता है। अर्थात् इतिहास किसी व्यक्ति द्वारा अपने या अन्य समाज के किसी पक्ष पर या किसी समाज द्वारा अपने अतीत के किसी पक्ष पर दृष्टिपात करने के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। स्वभावतः यह कोई एक इतिहास नहीं हो सकता, बल्कि देखने वाले के दृष्टि-भेद, प्रयोजन-भेद के अनुसार भिन्न-भिन्न इतिहास होते हैं। इस प्रकार 'भारतीय दर्शन का इतिहास' आदि पद-प्रयोग ही ग़लत हैं क्योंकि भारतीय दर्शन के उतने ही इतिहास होंगे जितने इसके लेखक होंगे। किन्तु द्रष्टव्य है कि यह इतिहास भी तभी बनता है जब कोई लेखक दार्शनिक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

चिन्तन के विकास का कोई क्रम दिखाये, अन्यथा तो अलग-अलग दार्शनिकों के विचारों के विवरण ही प्रस्तुत कर दिये जाते हैं। मेरी जानकारी में इस दृष्टि से पाश्चात्य दर्शन का केवल एक ही इतिहास लिखा गया है और वह है विंडल्बैंड द्वारा लिखित इतिहास। दर्शन के अन्य तथाकथित इतिहास तो विभिन्न दार्शनिकों के विचारों के पृथक्-पृथक् विवरण-विवेचन मात्र हैं।

इसके अनन्तर मैंने, डॉ॰ योगेश गुप्ता तथा डॉ॰ आनन्द कश्यप ने कुछ टिप्पणियाँ कीं और उनके श्री शल्य और डॉ॰ मुकुंद लाठ ने उत्तर दिये। अन्त में प्रो. दयाकृष्ण ने अध्यक्षीय वक्तव्य दिया।

दयाजी ने कहा कि परम्पराएँ सब समाजों में होती हैं किन्तु इतिहास-बोध सब समाजों में नहीं होता। इसके अनंतर अर्थ की बात करते हुए उन्होंने कहा कि चेतना का स्वभाव है कि वह अर्थ को ढूँढती है किन्तु अर्थ प्रकृति में कहीं नहीं होता, वह चेतना का आरोप ही होता है।

इतिहास के सम्बन्ध में उन्होंने कहा कि इसकी सार्थकता तभी है यदि वह प्रतिभा के नवोन्मेष को प्रेरित करे।

सरला कल्ला
दर्शन विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला के अन्तर्गत दर्शन प्रतिष्ठान के प्रकाशन

चिद्विमर्श

यशदेव शल्य

विषय-सूची

1. दर्शन का आरंभ-बिन्दु : प्रत्यङ्मुख चैतन्य 2. मनुष्य और जगत् 3. आत्म और अनात्म 4. जगद्वासना 5. जगच्चैतन्य : चैतन्य का जगद्विवर्त 6. कला-सर्जन 7. धर्म-दर्शन 8. मनुष्य, इतिहास और समाज विषयक वैदांतिक अवधारणा 9. तुलनात्मक दर्शन की अवधारणा।

मूल्य 175.00

मूल्यतत्त्व-मीमांसा

(शंकर-पुरस्कार से सम्मानित)

यशदेव शल्य

विषय-सूची

1. तत्त्वमीमांसा का औचित्य : आत्मतत्त्वान्वेषण 2. सृजन और सत्य : मूल्य की तत्त्वमीमांसा 3. मूल्य की वस्तुतंत्रता 4. धर्म-नीति का तत्त्व 5. धर्म-नीतिगत प्रामाण्य का स्वरूप 6. कला का अन्वेष्य-1 7. कला का अन्वेष्य-2 8. कलान्वेष्य सत्य का स्वरूप 9. ज्ञान और उसका अन्वेष्य 10. आत्मान्वेषण-1 11. आत्मान्वेषण-2 12. स्वातन्त्रय। परिशिष्ट : लोकसाधन।

मूल्य 200.00

प्रमुख भारतीय और पाश्चात्य दर्शन-धाराएं

यशदेव शल्य - भगवती

विषय-सूची

1. ऐतरेय उपनिषद् : रूपक का दार्शनिक तात्पर्य 2. तैत्तिरीय उपनिषद् की तत्त्व-दृष्टि 3. सांख्य 4. शांकर अद्वैतवाद 5. वसुबन्ध का विज्ञानवाद 6. अपोहवाद 7. जैन अनेकान्तवाद और स्याद्वाद 8. डेकार्ट 9. इम्मेनुएल कांट 10. समकालीन पाश्चात्य अनुभववादी दर्शन : सर्वेक्षण।

मूल्य 250.00

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection